जैन भारती

वर्ष 51 • अंक 11 • नवंबर, 2003

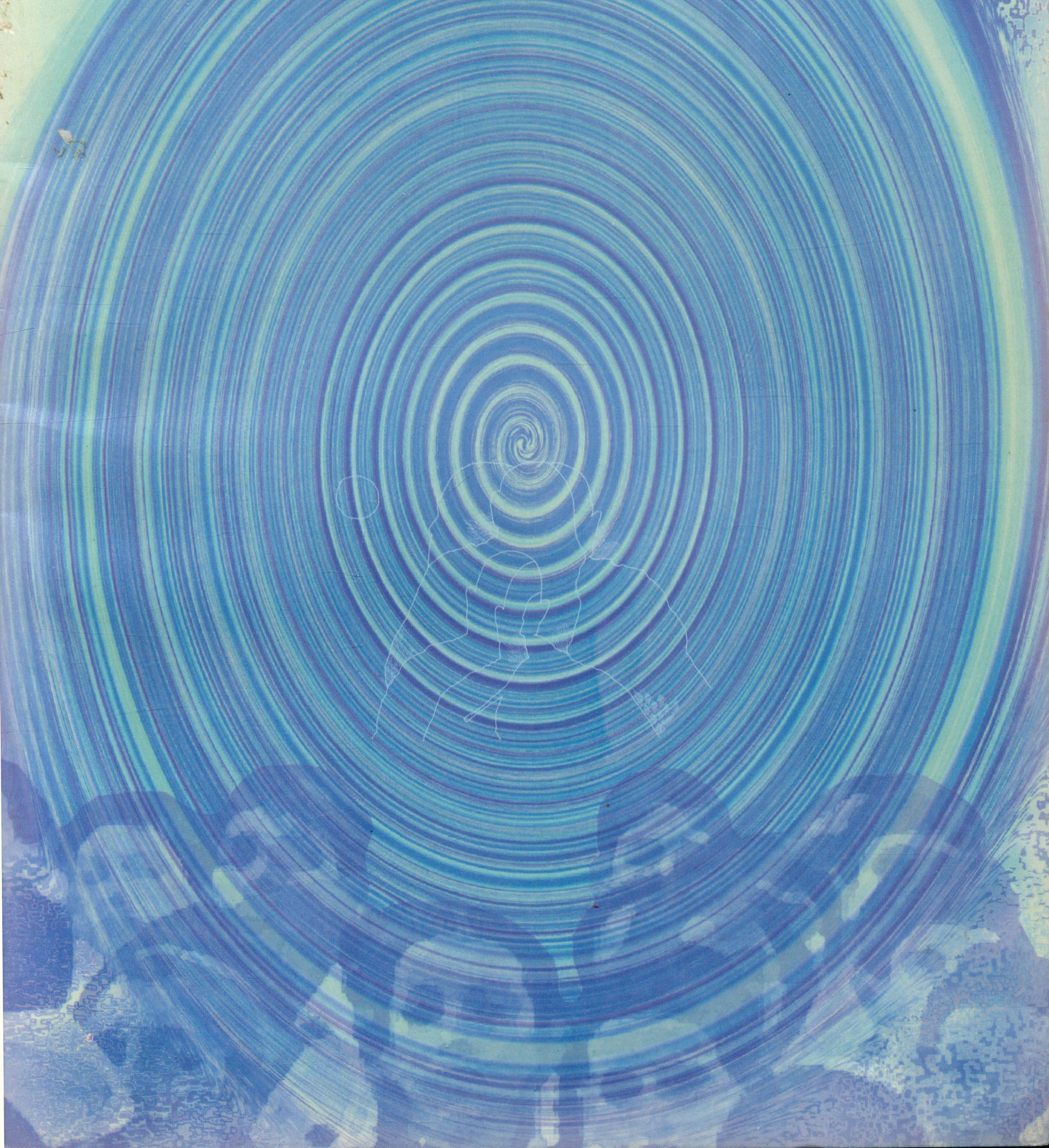

हार्दिक शुभकामनाओं के साथ :

श्री LAXMI ™

बच्छराज विनोदकुमार बाँठिया

चूरू • सूरत • हैदराबाद • कोयम्बटूर • दिल्ली

श्री लक्ष्मी ऑटोमोबाइल्स

जे. के. टॉवर, रिंग रोड, सूरत-2

मोबाइल : 9824114920

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 51 • नवंबर, 2003 • अंक 11

प्रसंग

5
शुभू पटवा
संस्कार और सामुदायिकता

विमर्श

9
नन्दकिशोर आचार्य
सत्याग्रही राज्य

12
समणी मंगलप्रज्ञा
जैन आगम साहित्य : उद्भव और सर्वमान्यता

अनुभूति

27
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
अनुशासन : एक मानसिक प्रशिक्षण

30
साध्वी विश्रुतविभा
संस्कार निर्माण : कब और कैसे?

34
विनोबा
शिक्षणशास्त्र—सर्वेषामविरोधेन : कर्मातिशेषेण

37
साध्वी स्वर्णरेखा
न तोषात् परमं सुखम्

39
कहानी
गोपीनाथ महांति
चिड़िया

42
कविता
राजेन्द्र उपाध्याय की कविताएं.

शीलन

45
मुनि तत्त्वरुचि 'तरुण'
षड्जीवनिकाय सिद्धांत : वैज्ञानिक-दार्शनिक दृष्टि

49
साध्वी जयमाला
न दैन्यं न पलायनम्

52
बालकथा
शारदाकुमारी
बीजी! भरोसा रख

•
आवरण
अडिग

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

प्रत्येक समाज में स्मृति-रक्षा या स्मृति-प्रवाह की परंपरा भिन्न-भिन्न होती है। स्मृति, संकल्प, बोध और लक्ष्य के विशिष्ट लक्षणों द्वारा ही किसी सभ्यता की विशेष पहचान होती है। मनुष्य-मात्र में कतिपय मूलभूत प्रेरणाएं होती हैं। ये प्रेरणाएं सार्वभौम हैं। इस स्तर पर सार्वभौमिकता या 'यूनिवर्सैलिटी' आधारभूत तथ्य है। साथ ही, प्रत्येक सभ्यता में ऐसी प्रेरणाएं विशिष्ट पुरुषार्थ-रूपों का आधार बनती रही हैं। समाज का जीवन, समाज के आदर्श, समाज के परस्पर व्यवहार, विद्या संबंधी बोध और विभाग, विद्या की विविध शाखाओं—अध्यात्म, भाषा, व्याकरण, दर्शन, शिल्प समुदाय, कृषि, आहार, विहार; भूषा, भवन, भोजन, सज्जा, शिष्टता आदि संबंधी विचार और व्यवस्थाएं; कला, संगीत, नृत्य, साहित्य, काव्य, इतिहास या स्मृति-परंपरा; गणित, चिकित्सा, जीवन-विधि, संयम-विधि, स्वास्थ्य-विद्या या आयु-विद्या, विविध संस्कार, अनुष्ठान, घर, घर की रचना, घर की रक्षा, घर की सुरक्षा, घर का वैभव, घर का परिवेश, अपने पालतू प्राणियों तथा परिवेश के प्राणियों, पशु-पक्षियों आदि जीवों एवं वनस्पति के प्रति दृष्टि, भाव तथा व्यवहार; उपासना, शिष्टाचार तथा अन्य पक्षों के अंगभूत कर्मकांड, राज्य, राज-व्यवस्था, राजनीति-तंत्र, समाज के विविध समुदायों की स्थिति का निरूपण और उनके परस्पर संबंधों के आधारों का निरूपण, सैन्य-विद्या एवं सैन्य-आदर्श, सैन्य-बल-संगठन, व्यापार-वाणिज्य, परिचर्या-कर्म, जन्म, विवाह, परिवार, नर-नारी में परस्पर आदर या अनादर और समाज में ऐसी मान्यताओं का स्थान, संतति आदि से संबंधित श्रद्धा-परंपराएं, वीरता, विनय और साहस तथा शिष्टता, समझौता और सहनशीलता संबंधी विचार और व्यवहार, सौंदर्य और कुरूपता, सुरुचि और कुरुचि तथा शील और स्वैराचार संबंधी विशिष्ट बोध एवं मान्यताएं, मृत्यु तथा श्राद्ध परंपराएं, दंड और क्षमा संबंधी विचार और व्यवहार आदि प्रत्येक सभ्यता के विशिष्ट लक्षण होते हैं। इन विशिष्ट लक्षणों के क्या-क्या कारण हुआ करते हैं, यह निरंतर अध्ययन, अनुसंधान, अवधान और जिज्ञासा के विषय हैं। स्वयं इन लक्षणों की समझ का स्वरूप भी किसी सभ्यता के ही विशिष्ट लक्षण संमुच्चय का अंग होता है। अतः ये विशिष्ट लक्षण अधिक-से-अधिक जानना ही किसी सभ्यता को जानना है। उसके बिना मात्र सार्वभौमता को जानना, वस्तुतः, लगभग न जानने जैसा है। मात्र सार्वभौमता को जानना बौद्धिक तमस में प्रसुप्त रहता है। जगत-गति का ज्ञान उससे नहीं होता। परा-गति के लिए जो तेजस चाहिए, वह भी इस मूढ़ता की चित्त दशा में संभव नहीं होता। इस प्रकार विशिष्ट लक्षण प्रमाण-संयुक्त वस्तुतत्त्वों का विवेक ही धर्म के बोध का माध्यम होता है।

—धर्मपाल

ध्रुव-सत्य को पकड़ने में सबसे बड़ी बाधा है—राग-द्वेषपूर्ण मनःस्थिति। द्वेष की अपेक्षा राग अधिक बाधक है।

किसी आदमी ने बच्चे के मुंह पर एक चपत जमाया। लोगों ने उसे उलाहना दिया।

किसी आदमी ने बच्चे को लड्डू दिया। लोगों ने उसे सराहा।

द्वेष पर दृष्टि सीधी जाती है, पर राग पर नहीं जाती। द्वेष की अपेक्षा राग को छोड़ना अधिक कठिन है। द्वेष मिटने पर भी राग रह जाता है। इसीलिए वीतराग कहा जाता है, वीतद्वेष नहीं।

राग वस्तुओं का ही नहीं होता, विचारों का भी होता है। आचार्य हेमचंद्र के अनुसार काम-राग, स्नेह-राग को थोड़े-से प्रयत्न से मिटाया जा सकता है, पर दृष्टि-राग—विचारों के राग का उच्छेद करना बड़े-बड़े पुरुषों के लिए भी कठिन है।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

मनुष्य की अच्छी और बुरी—दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों में शरीर और मन—दोनों की भूमिका रहती है। फिर भी सामान्यतः वह शरीर पर अधिक ध्यान देता है। प्रातःकाल जागरण से लेकर रात्रि में शयन के समय तक मनुष्य क्या करता है? नहाना, धोना, कंघी करना, दतौन करना, खाना-पीना, सोना आदि कार्यों से किसका संबंध है? शरीर का या मन का? मैं जहां तक समझ पाया हूं, अधिसंख्य लोग अधिक काम शरीर के लिए करते हैं। मन की इतनी उपेक्षा है, तो वह अस्वस्थ क्यों नहीं होगा? मन को अस्वस्थता से बचाने या स्वस्थ बनाने की बात से पहले आवश्यक है—मन को समझना। जब तक मन के स्वरूप पर सम्यक् विचार नहीं हो पाएगा, मन सुमन नहीं बन पाएगा।

मन को सुमन बनाना एक उपलब्धि है, पर मंजिल इससे आगे है। जिस क्षण मन अमन बनता है, उसी क्षण मनुष्य अमन-चैन की बांसुरी बजा सकता है।

मन को सुमन या अमन बनाने के दो उपाय हैं—मानसिक एकाग्रता और संकल्प-शक्ति का विकास।

—आचार्यश्री तुलसी

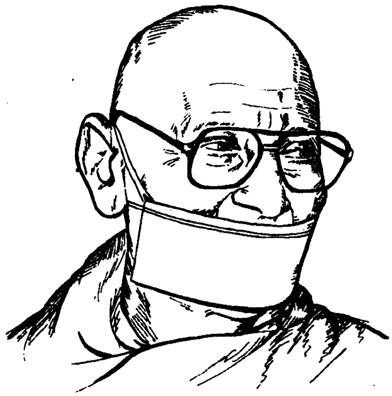

कर्मवाद को मानने वाले कर्म को उत्तरदायी बताते हैं। भला-बुरा कुछ भी होता है, वे सब-कुछ कर्म पर डाल देते हैं। अच्छे का उत्तरदायित्व कर्म पर डालते हैं, बुरे का उत्तरदायित्व कर्म पर डालते हैं। सीधी बात कहते हैं—मैं क्या करता, कर्म में ऐसा ही लिखा था। कर्मवादी अपने-आप को बचाकर कर्म को उत्तरदायी मानते हैं। आदमी बच गया, कर्म फंस गया।

'हम क्या करें, कर्म में ऐसा ही लिखा था'—इस मिथ्या धारणा ने अनेक भ्रांतियां पैदा की हैं। इस धारणा ने गरीबी, बीमारी, दुर्व्यवस्था और अज्ञान को बढ़ने में सहारा दिया है, आलंबन दिया है, इन्हें टिकाए रखा है। कर्मवाद को एकाकी उत्तरदायी मान लेना गलत धारणा है।

कर्मवाद व्यापक सिद्धांत है। कालवाद, स्वभाववाद और नियतिवाद—ये इतने व्यापक नहीं हैं, जितना व्यापक है कर्मवाद। ईश्वरवादी भी कर्मवाद को स्वीकार करते हैं और अनीश्वरवादी भी कर्मवाद को स्वीकार करते हैं। आदमी जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसे भुगतना पड़ता है। यह तथ्य इस तरह से समझाया जाता है कि आदमी के पुरुषार्थ का दीप बुझ जाता है और वह जाने-अनजाने अंधकार में भटक जाता है। वह मानने लग जाता है कि मैं असहाय हूं। मैं कुछ नहीं कर सकता। जैसा पहले का कर्म-फल है, वैसा ही मुझे प्राप्त होता रहेगा।

मनुष्य में कुछ विशेषताएं होती हैं। उसमें कुछ विशेष गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शक्ति, क्षमता, कर्तृत्व—ये उसके गुण हैं। उसमें सुख-दुख, लाभ-अलाभ, जन्म-मृत्यु, बड़प्पन-छुटपन आदि होते हैं। उसमें शरीरगत विशेषताएं होती हैं। कोई काला है, कोई गोरा है, कोई नाटा है, कोई लंबा है, कोई सुरूप है, कोई कुरूप है—ये सारी बातें कर्म के साथ जोड़ी गई हैं।

इनको समझने के लिए ऐसे-ऐसे उदाहरण दिए जाते हैं कि व्यक्ति के मन में यह संस्कार सहज रूप में जम जाता है कि मैं कुछ भी नहीं हूं। सब-कुछ करने वाला है कर्म। सारा बोझ कर्म पर है। मैं तो भारहीन हूं, हल्का-फुल्का हूं। मेरा कुछ भी नहीं है। यह धारणा बन जाती है। एकांगी दृष्टिकोण पनप जाता है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

संस्कार और सामुदायिकता

सूचना और संचार प्रौद्योगिकी ने समूचे विश्व को एक गांव की शक्ल में तबदील कर दिया है, यह बात अक्सर बड़े गुमान के साथ कही-बताई जाती है। जिस प्रकार का विकास समूचे विश्व में नजर आ रहा है और इसके संजाल में जिस रूप में मनुष्य-समाज फंसता चला जा रहा है—उसमें सबसे चिंताजनक पहलू मानवीय संस्कारों और सामुदायिक जीवन का क्षरण है। भारत जैसे विशाल और विविधता-भरे देश में, जहां जीवन की जटिलताएं अन्य देशों से काफी भिन्न हैं—संस्कारों की टूटन और सामुदायिक जीवन में आ रहे बिखराव के कारण इन जटिलताओं को सुलझा पाना काफी कठिन होने लगा है और जो मानवीय समस्याएं खड़ी हो रही हैं, उनसे समाज-विखंडन की स्थितियां प्रबल होती जा रही हैं। यह नजारा आज हम घर के आंगन से लेकर गांव की चौपाल तक—सब जगह देख सकते हैं।

हमारी सामुदायिक जीवन-शैली पर नश्तर लगाने का सिलसिला आज, कल या कुछ वर्षों का नहीं है। यह सिलसिला ब्रितानी हुकूमत से ही शुरू हो गया था और ज्यों-ज्यों हमारा जीवन-क्रम बदला, इस हुकूमत के पांव मजबूत होते चले गए। दरअसल ब्रितानी शासन की सफलता और उसके टिके रहने के पीछे सबसे बड़ा कारक-तत्त्व संस्कार-क्षरण ही रहा। दुर्भाग्य से यह क्षरण अभी तक बदस्तूर जारी है और अब सूचना और संचारतंत्र की मजबूत जकड़ में 'विश्व-गांव' के पटल के रूप में इसका निर्वसन-रूप हमारे सामने प्रकट है। समाज का बड़ा हिस्सा इस 'विश्व-गांव पटल' के सम्मुख आज असहाय-सा नजर आता है और इस तेज बहाव को थाम लेने की सामर्थ्य भी क्षीण-सी दिखाई देती है। अलबत्ता भारतीय समाज में ऐसी ऊर्जा और तेजस्विता अभी भी विद्यमान है जो मानवीय मूल्यों के क्षरण को नियंत्रित करने के लिए अविराम सचेष्ट है।

मनुष्य समाज के सामने यह एक चुनौती है और इसका मुकाबला अभी भी भारत जैसा देश ही कर सकता है, जिसकी जड़ें गहरे अतल में हैं। हर तरह के दबावों, हमलों और प्रभावों के बावजूद हमारी परंपरा और संस्कृति का मटियामेट नहीं हो सका है। अभी भी उसकी लौ का उजास मार्ग प्रशस्त करने की क्षमता रखता है। अलग-अलग स्तरों पर अभी भी जो काम हो रहे हैं—वे आश्वस्तिदायक हैं। व्यापक स्तर पर वे परिवर्तनकारी कैसे हो सकते हैं—इस पर विचार होना जरूरी है। संस्कारों की सूखती जा रही फसल के लिए जिन उपायों की जरूरत है—जिस तरह का अभिसिंचन जरूरी है और जिस नई जमीन की तलाश की जा सकती है—भारतीय समाज में उन सभी उपायों के लिए पर्याप्त अवकाश है। इस धरती पर अभी भी ऐसे महापुरुष हैं जो अपनी-अपनी गैंती-कुदाली से नई जमीन तोड़ने की क्षमता रखते हैं और संस्कारों की फसल को पर्याप्त अवसर व उर्वरता प्रदान कर रहे हैं।

हमारे समय के ऐसे सभी महापुरुषों के प्रयासों को समेकित रूप से देखने-समझने की जरूरत है। शिक्षा के क्षेत्र में इस दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहे हैं, जो लीक से हटकर होने के साथ ही हमारी अपनी परंपरा और संस्कृति के काफी निकट है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा प्रणीत 'जीवन विज्ञान' शिक्षा-विधि का उदाहरण हमारे सामने है। शिक्षा के वर्तमान प्रचलित ढांचे के साथ जीवन-विज्ञान को साथ में रखकर देश के कई हिस्सों में काम होने लगा है। इसके दूरगामी नतीजे तो समय आने पर सामने आएंगे, पर तात्कालिक स्तर पर जीवन-विज्ञान और प्रेक्षा-ध्यान की विधियों से विद्यार्थियों के व्यवहार में परिवर्तन नजर आने लगा है। छात्रों में ऐसे परिवर्तनों का असर शाला-प्रबंधन और कक्षा-कक्ष शिक्षण में भी देखा जा सकता है। जीवन-विज्ञान और प्रेक्षा-ध्यान के ऐसे प्रयोगों की समीक्षा की जानी चाहिए।

इसी तरह संस्कारों की उत्तम फसल के लिए घर का आंगन और मां की गोद श्रेष्ठ स्थल माने जाते रहे हैं। सामुदायिकता के ह्रास के चलते 'आंगन' सिकुड़ते चले जा रहे हैं। घर की दीवारों और खांचों ने 'आंगन' के महत्त्व को तिरोहित किया है। संयुक्त परिवार की ओजस्वी आभा से च्युत एक 'लघु-इकाई'-भर के रूप में उभरा परिवार भी अब 'एक' प्रतीत नहीं होता। वहां भी जितने 'माथे', उतने 'मत' नजर आते हैं। मत ही नहीं, मतांतर और अंततः मनांतर और उसी से निःसृत विग्रह से यह 'लघु-इकाई' भी विश्रृंखल होने लगी है। मां की गोद में बचपन तो अपने को सुरक्षित महसूस करता है, क्योंकि वह अबोध है, पर मां को ही वह बचपन बोझ लगता है—या तो 'कामकाजी' (?) होने की वजह से या घर में घुस आए 'दूषण' के कारण। अतः यह जरूरी हो जाता है कि सर्वप्रथम हमारा ध्यान घर के आंगन और मां की गोद की ओर जाए।

सामुदायिकता का पहला पाठ 'आंगन' ही है और संस्कारों की सबल सीख मां की गोद में ही बालक को मिलती है। आंगन के उजाड़ को समाप्त कर फिर से उसकी महत्ता स्थापित करना और घर में घुस आए 'दूषण' के प्रति सचेत होना संस्कारों की फसल के अभिसिंचन की पहली शर्त है। बताने की जरूरत नहीं, यह 'दूषण' टेलिविजन से लेकर विलासिता के उन सब संसाधनों में निहित है जो मनुष्य के जीवन को श्रमहीन, परावलंबी और पंगु बनाते हैं। इन्हीं के चलते क्रूरता व असहिष्णुता अपने पग मजबूत करती है और यही दशा आगे जाकर मनुष्य के बुद्धि-बल व रचनात्मक-क्रियात्मक क्षमता को क्षीण करती है।

इस दृष्टि से भारतीय समाज संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। यह समाज अभी तक पूरी तरह संस्कार-च्युत नहीं हुआ है, पर अपने संस्कारों के प्रति इसमें पहले-सी आस्था व दृढ़ता भी नहीं रही है। विनयशीलता, आत्मानुशासन और संयमशीलता का अभाव पग-पग पर देखा जा सकता है। साथ ही, इससे पनपी कसमसाहट और द्वंद्व भी आज की पीढ़ी को पूरी तरह अस्थिर किए हुए है। यह हालत त्रिशंकु-सी है, जिसमें झूलते रहने के सिवा कुछ हासिल नहीं हो पाता। वैयक्तिक स्तर पर तो यह स्थिति घातक है ही, सामाजिक अस्वस्थता की द्योतक भी है।

सामाजिक स्वास्थ्य और वैयक्तिक विकास के लिए आत्मानुशासन, संयम, विनयशीलता, परस्परता और आपसी विश्वास अनिवार्यतः जरूरी हैं। इनके लिए घर का 'आंगन' और मां की गोद ही अभिनव टकसाल हैं। इसमें जो अवरोधक तत्त्व हैं; उनकी शक्ति को ठीक से समझे बिना और उन्हें ठीक से पहचाने बिना उनको परास्त कर पाना कठिन है। इसके लिए हमें अपनी परंपरा, अपनी संस्कृति, अपने ज्ञान-विज्ञान और अपने दर्शन-अध्यात्म में झांकना होगा। 'विश्व-गांव पटल' पर अपने पांव भी हम तभी मजबूत बना पाएंगे जब अपनी सोच को भारतीय रखते हुए उस मंजी आंख से जगत को देखेंगे।

—शुभू पटवा

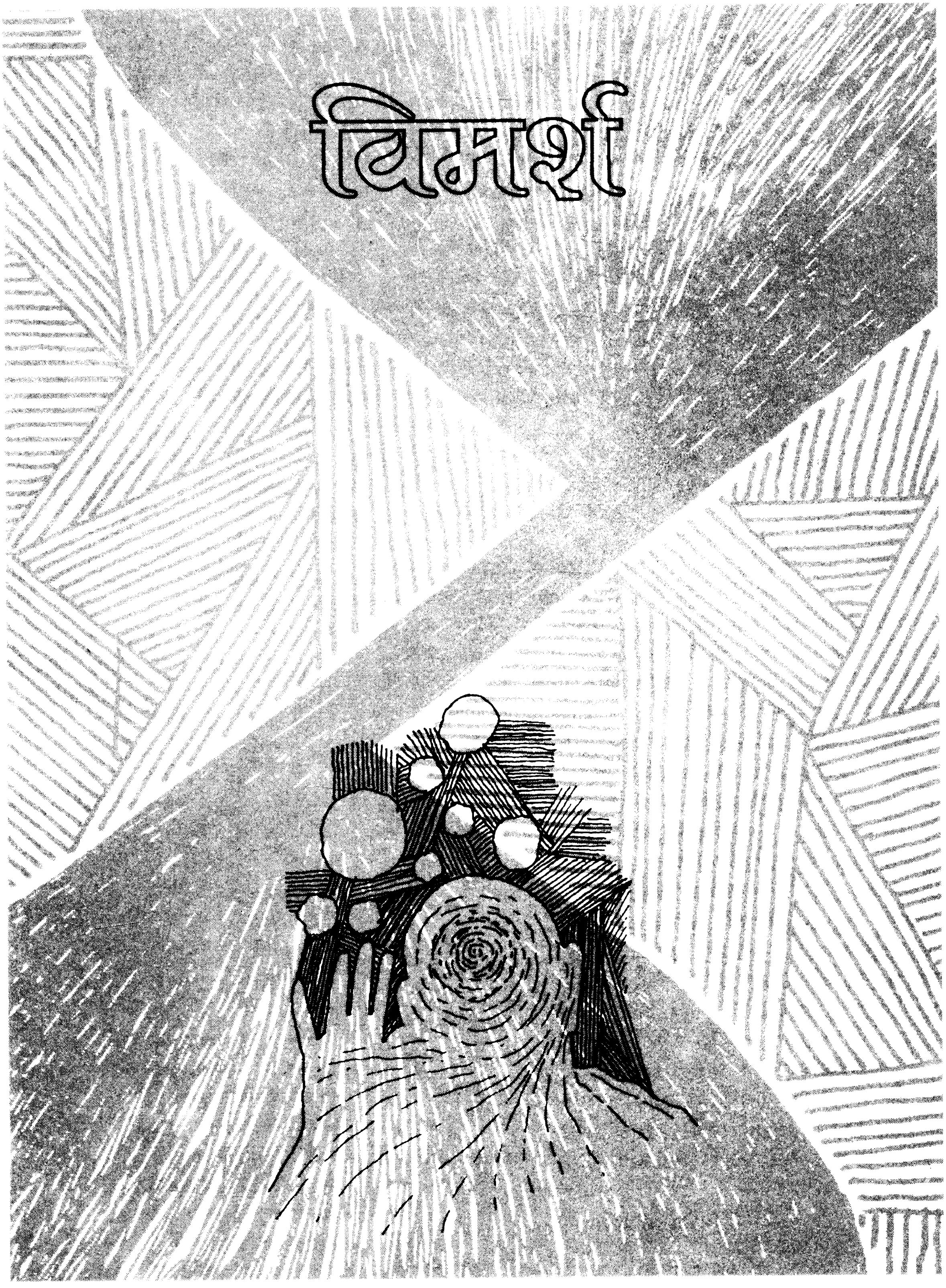
विमर्श

भारतीय दर्शन में 'मनोविज्ञान' वास्तव में आत्मविज्ञान है, क्योंकि उसके सिद्धांत, एक या दो अपवादों को छोड़कर, इस मान्यता पर आधारित हैं कि आत्मा का अस्तित्व है। यह शास्त्र भारत में कभी दर्शन से अलग नहीं हुआ और इसलिए प्रत्येक दर्शन का अपना अलग ही मनोविज्ञान है। निस्संदेह यहां के विभिन्न मनोविज्ञानों में कुछ सिद्धांत समान हैं; फिर भी प्रत्येक की अपनी अलग विशेषताएं हैं और जो मनोविज्ञान जिस दर्शन से संबद्ध है, उसकी विशेषताएं उस दर्शन के सिद्धांतों के अनुकूल ही हैं। उपनिषदों के ऋषियों की दृष्टि में आत्मा का अस्तित्व संपूर्ण अनुभव का आधारभूत तत्त्व है। वह सारे प्रमाणों का आधार है और इसलिए स्वयं अपने लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। 'जिसके द्वारा यह सब जाना जाता है, उसे कोई किसके द्वारा जानेगा? ज्ञाता का ज्ञान किस प्रमाण से हो सकेगा?' यद्यपि इस कारण से उपनिषद् आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए कोई सीधा प्रमाण देने का प्रयत्न नहीं करते, तथापि उनमें इस विषय में अनेक सुझाव पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, आत्मा या जीव को प्रायः पुरुष कहा गया है और 'पुरुष' का अर्थ 'पुरि-शय' यानी 'शरीर-रूपी दुर्ग में रहने वाला' बताया गया है। इसका मतलब यह है कि अनेक होते हुए भी सहयोग से काम करने वाले अवयवों से युक्त शरीर का अस्तित्व किसी ऐसी अज्ञात वस्तु के अस्तित्व का सूचक है, जिसके प्रयोजन को वह पूरा करता है। वही अज्ञात वस्तु, जिससे पृथक होने पर यह शरीर-रूपी यंत्र व्यर्थ हो जाएगा, आत्मा है।

—एम. हिरियन्ना

दुनिया में शायद ही कोई धर्म होगा जिसमें कुछ आंतरिक मत-मतांतर और उनके अपने धर्मतंत्र न हों। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समाज को धार्मिक होते हुए अनिवार्यतः धर्मसहिष्णु या धर्म-समभावी होना होगा। सच तो यह है कि धार्मिक होने पर ही अन्य धर्मों के प्रति वास्तविक सम्मान रह सकता है—धर्मनिरपेक्षता या सेकुलरवाद में तो धर्म के सम्मान का मतलब ही क्या है? राज्य भी इसीलिए धर्मसहिष्णु या धर्म-समभावी होकर ही समाज का वास्तविक प्रतिनिधि हो सकता है। अन्यथा वह धर्मनिरपेक्षता के नाम पर धर्म को अपनी राजनीति का एक औजार बना लेता है क्योंकि धर्म के प्रति कोई वास्तविक सम्मान या लगाव का भाव उसमें रहता ही नहीं है। इस धर्म-समभाव का तात्पर्य यही है कि राज्य भी आध्यात्मिक संवेदना को तो स्वीकार करता है पर वह किसी एक धर्मतंत्र से प्रेरित, संचालित अथवा उसके अनुयायियों के प्रति पक्षपातपूर्ण नहीं है।

सत्याग्रही राज्य

नन्दकिशोर आचार्य

पिछले कुछ अरसे से सेकुलरवाद या धर्म-निरपेक्षता की अवधारणा को लेकर काफी बहस होती रही है। लेकिन इस बहस में अक्सर यह बात भुला दी जाती है कि धर्मनिरपेक्षता पर कोई भी बहस वस्तुतः धर्म के संदर्भ में राज्य और समाज के रिश्तों पर बहस है। सेकुलरवाद का विकास यूरोप में राज्य की संप्रभुता के विकास के साथ-साथ हुआ है। संप्रभु राज्य की अवधारणा के अंतर्गत राज्य किसी समाज के बहुत-से संगठनों में से एक नहीं बल्कि समाज का स्वामी या संचालक हो जाता है। धर्म एक समाज की आध्यात्मिक-नैतिक संवेदना की अभिव्यक्ति है जबकि राज्य उसकी राजनीतिक संवेदना की अभिव्यक्ति। लेकिन राज्य की संप्रभुता का अर्थ है समाज की आध्यात्मिक-नैतिक संवेदना और उसकी अभिव्यक्ति का राज्यतंत्र के अधीन आ जाना। राज्यतंत्र और राजनीतिक संवेदना में उतना ही अंतर है जितना नैतिक-आध्यात्मिक संवेदना और धर्मतंत्र में। यूरोप में भी राजनीतिक संवेदना और आध्यात्मिक संवेदना में वस्तुतः वह संघर्ष नहीं था जो राज्यतंत्र और धर्मतंत्र में हुआ और अपनी-अपनी बुनियादी संवेदना से शून्य होते चले जाने के कारण दोनों ही जड़ होकर केवल तंत्र होते गए और इसी कारण तंत्र की प्रतिष्ठा के लिए दोनों ही अपने-अपने तरीके से अत्याचारी भी हुए।

धर्म किसी भी सभ्यता की अंतरात्मा है और राज्यतंत्र तथा धर्मतंत्र—दोनों उसका बाह्यानुशासन है, लेकिन जब हम बाह्यानुशासन को अंतरात्मा पर थोप देते हैं तो उससे एक प्रकार का फाशीवाद पैदा होता है जिसका बाह्य स्वरूप इस पर निर्भर करता है कि थोपा जाने वाला अनुशासन धर्मतंत्रीय है या राज्यतंत्रीय अर्थात् संप्रभुता धर्मतंत्र में है या राज्यतंत्र में। जब समाज अपनी आध्यात्मिक-नैतिक संवेदना को धर्मतंत्रीय संप्रभुता के संचालन में रखना स्वीकार कर लेता है तो उससे सांप्रदायिक राज्य अर्थात् थियोक्रैसी का जन्म होता है और जब संप्रभुता का स्वरूप पूरी तरह राज्यतंत्रीय होता है तो उससे सेकुलरवाद या धर्मनिरपेक्ष राज्य का। लेकिन दोनों ही स्थितियों में समाज की संप्रभुता का अपहरण कर लिया जाता है और समाज धर्मतंत्र अथवा राज्यतंत्र का पिछलग्गू बना दिया जाता है। दोनों व्यवस्थाएं सर्वाधिकारवादी होती हैं। यही फाशीवाद है।

यूरोप में सेकुलरवाद का संघर्ष वस्तुतः राज्यतंत्र और धर्मतंत्र के बीच संप्रभुता के लिए संघर्ष है, जिसमें धर्मतंत्र के

संवेदनाहीन और जड़ होते चले जाने की वजह से समाज की गतिशीलता का समर्थन राज्यतंत्र को मिलता गया—यद्यपि समाज धर्मतंत्र के चंगुल से निकलकर राज्यतंत्र और उसकी प्रेरक शक्ति अर्थतंत्र की संप्रभुता के चंगुल में फंसता चला गया। यह भुला दिया गया कि जीवन एक समग्रता है, इसलिए उसकी आध्यात्मिक संवेदना और राजनीतिक संवेदना को दो अलग-अलग खांचों में विभाजित नहीं किया जा सकता और यह भी कि आध्यात्मिक संवेदना से प्रसूत नैतिक संवेदना ही किसी समाज की राजनीतिक संवेदना की मूल प्रेरणा बन सकती है। इस आध्यात्मिक संवेदना से प्रसूत होने के कारण ही गांधीजी अपनी राजनीति को भी आध्यात्मिक साधना की एक प्रक्रिया मानते थे और इसी कारण राजनीति को धर्म से समन्वित करने का आग्रह करते थे। गांधीजी की राजनीति और धर्म के एक होने के बावजूद उन पर न धर्मतंत्र हावी था और न राज्यतंत्र। उनकी राजनीति आध्यात्मिक-नैतिक थी, न कि थियोक्रैटिक या सेकुलर। लेकिन थियोक्रैटिक और सेकूलर के द्वंद्व में फंसा हुआ आधुनिकतावादी मन इन दोनों कोटियों से अलग होकर सोच भी नहीं पाता।

राज्य यदि समाज की राजनीतिक अभिव्यक्ति है तो उसके लिए सेकुलर होना संभव ही नहीं है क्योंकि कोई भी समाज सेकुलर नहीं है। लेकिन समाज के धार्मिक या आध्यात्मिक होने का तात्पर्य उसका सांप्रदायिक या धर्मतंत्रीय होना कतई नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि एक समाज की धार्मिक संवेदना अनिवार्यतः किसी एक ही धर्मतंत्र या संगठन में प्रतिफलित हो। समाज के विभिन्न समूह विभिन्न धार्मिक संगठनों या पंथों के साथ जुड़े हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि किसी एक ऐतिहासिक धर्म के अंतर्गत उसकी कई शाखाएं हों और उनमें से प्रत्येक का अपना धर्मतंत्र हो। दुनिया में शायद ही कोई धर्म होगा जिसमें कुछ आंतरिक मत-मतांतर और उनके अपने धर्मतंत्र न हों। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समाज को धार्मिक होते हुए अनिवार्यतः धर्मसहिष्णु या धर्म-समभावी होना होगा। सच तो यह है कि धार्मिक होने पर ही अन्य धर्मों के प्रति वास्तविक सम्मान रह सकता है—धर्मनिरपेक्षता या सेकुलरवाद में तो धर्म के सम्मान का मतलब ही क्या है? राज्य भी इसीलिए धर्मसहिष्णु या धर्म-समभावी होकर ही समाज का वास्तविक प्रतिनिधि हो सकता है। अन्यथा वह धर्मनिरपेक्षता के नाम पर धर्म को अपनी राजनीति का एक औजार बना लेता है क्योंकि धर्म के प्रति कोई वास्तविक सम्मान या लगाव का भाव उसमें रहता ही नहीं है। इस धर्म-समभाव का तात्पर्य यही है कि राज्य भी आध्यात्मिक संवेदना को तो स्वीकार करता है पर वह किसी एक धर्मतंत्र से प्रेरित, संचालित अथवा उसके अनुयायियों के प्रति पक्षपातपूर्ण नहीं है। राज्य की संप्रभुता धार्मिक संवेदना को स्वीकार करते हुए भी किसी धर्मतंत्र से निर्देशित या बाधित नहीं होगी और किन्हीं दो धर्मतंत्रों के बीच विवाद होने पर उसका निर्णय किसी एक धर्मतंत्र के नियमों या आग्रह के आधार पर नहीं बल्कि न्याय के प्रचलित सिद्धांतों और प्रक्रियाओं के आधार पर होगा।

लेकिन यहां कई सवाल आ उपस्थित होते हैं। क्या राज्य को किसी धर्मतंत्र और उसके अनुयायियों के बीच हस्तक्षेप का अधिकार है? यदि राज्यतंत्र और धर्मतंत्र के बीच कोई विवाद हो जाए तो उस धर्मतंत्र के अनुयायी की निष्ठा किसके साथ हो? क्या अपने धर्म को राज्य या राष्ट्र से अधिक महत्त्व देना राष्ट्रद्रोही होना है? कोई व्यक्ति अपने धर्म-विशेष का अनुयायी पहले है या राज्य अथवा राष्ट्र का नागरिक?

आज के संदर्भ में ये सभी सवाल महत्त्वपूर्ण हो उठे हैं—लेकिन ये पैदा तभी होते हैं जब धर्म की बुनियाद से हमारा विचलन हो जाता है। महात्मा गांधी ने एक बार कहा था कि एक विशेष अर्थ में वे हिंदू पहले हैं और एक राष्ट्रवादी बाद में—यद्यपि हिंदू होना और राष्ट्रवादी होना उनकी दृष्टि में एक-दूसरे के अनिवार्य विरोध में नहीं है बल्कि हिंदू होना उन्हें एक बेहतर राष्ट्रवादी बनाता है। गांधीजी की यही बात कोई आस्थावान मुसलमान या ईसाई भी कह सकता है क्योंकि मोहम्मद साहब और ईसा में ईमान लाना और राष्ट्रवादी होना विरोधपूर्ण नहीं हैं। दरअसल, यह सवाल उसी तरह का एक कुतर्क है जैसे यह पूछना कि कोई अपनी मां का पुत्र पहले है या पिता का।

लेकिन यह सवाल तब महत्त्वपूर्ण हो जाता है जब हम धार्मिक होने का अर्थ किसी धर्मतंत्र और धर्माधिकारियों का अंधानुयायी होना मान लेते हैं। राज्यतंत्र और धर्मतंत्र के बीच विवाद तभी पैदा होता है जब ये दोनों या कोई एक भी अपनी मर्यादा की परिधि लांघना चाहता है। मर्यादा लांघने की यह आवश्यकता अधिकांशतः तभी पड़ती है जब दोनों या उनमें से कोई अपने तंत्र को उस उद्देश्य से अधिक महत्त्व देने लगता है जिसके लिए उसका विकास या निर्माण हुआ है। यदि धर्म केवल विश्वास या उपासना पद्धति ही होता तो शायद राज्य के साथ उसका अधिक विवाद नहीं होता—यद्यपि नरबलि जैसे विश्वासों या पद्धतियों का विरोध राज्य को तब भी करना पड़ता। लेकिन धर्मतंत्र अपने

को एक सामाजिक व्यवस्था या जीवन प्रणाली भी मानते हैं, उनकी अपनी आचार-संहिताएं हैं और वे उनमें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।

राज्य का मुख्य कर्तव्य इस तरह के कार्यों का संचालन करना है जिनसे समाज में एक न्यायपूर्ण व्यवस्था सुचारु रह सके। इसीलिए यह देखना उसकी परिधि में आता है कि किसी भी व्यक्ति के प्रति कोई अन्य व्यक्ति या तंत्र अन्याय न कर सके। राज्य स्वयं भी एक अन्यायी तंत्र में बदल सकता है, इसलिए राजनीतिक दर्शन में स्वयं राज्यतंत्र के अन्याय का विरोध कर सकने की भावना और व्यवस्था विकसित करने का आग्रह किया जाता रहा है। पारंपरिक और आधुनिक, दोनों ही तरह के राजनीतिक दर्शनों में यह विचार मान्यता प्राप्त है। इसका स्पष्ट निहितार्थ यही है कि व्यक्ति या समाज की संप्रभुता स्वयं उसी में निहित है और राज्य को उसका उपयोग करने का नैतिक अधिकार तभी तक है जब तक वास्तविक संप्रभु वैसा चाहे। यदि राज्य समाज के वास्तविक हितों के विरुद्ध आचरण करे तो वह कम-से-कम नैतिक स्तर पर तो यह अधिकार खो ही देता है और तब वास्तविक संप्रभु को नैतिक स्तर पर ऐसे राज्य का विरोध करने का अधिकार मिल जाता है—चाहे वैधानिक व्यवस्था कुछ भी हो। गांधीजी के अनुसार तो ऐसे राज्य का विरोध करना उसका धर्म बन जाता है। सत्याग्रह अधिकार से पहले नागरिक का धर्म है।

जो बात राज्य और समाज के रिश्तों के लिए सच है वही समाज और धर्मतंत्र के रिश्तों पर भी लागू होती है। धर्मतंत्र भी कई बार अपने अनुयायियों के वास्तविक हितों का विरोध करने लग जाता है। यदि कोई जैन, बौद्ध, हिंदू, ईसाई, मुस्लिम या सिख संगठन अपने अनुयायियों को हिंसक बनाने की कोशिश करता है तो ऐसा करना इन धर्मों के मूल सिद्धांतों के खिलाफ काम करना है। यदि वह अपने आंतरिक आचरण में भी अपने अनुयायियों के बीच सामान्य मानवीय संवेदना, न्याय और करुणा के सिद्धांतों की अवहेलना करता है तो वह अपने अनुयायियों पर से नैतिक अधिकार खो देता है। ऐसी स्थिति में उसके अनुयायियों या उनके एक हिस्से को—बल्कि एक व्यक्ति तक को—नैतिक दृष्टि से यह अधिकार मिल जाता है कि वह अपने धर्मतंत्र के विरोध में या उससे अलग रास्ते पर जा सके और राज्य का भी तब यह कर्तव्य बन जाता है कि वह विरोध करने, संशोधन की मांग रखने या अलग रास्ते पर जाने के उसके अधिकार की रक्षा करे। कई बार इस संबंध में व्यक्ति और समाज के द्वैत का भी सवाल उठाया जाता है लेकिन तब हम यह भूल रहे होते हैं कि तंत्र के विरुद्ध व्यक्ति को दिया गया अधिकार वस्तुतः समाज को ही दिया गया अधिकार है क्योंकि किसी-न-किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के माध्यम से ही समाज के अधिकार की पुष्टि होती है।

इसलिए राज्यतंत्र और धर्मतंत्र का संघर्ष वस्तुतः संप्रभुता के लिए किया जाने वाला संघर्ष है। दोनों अपनी संप्रभुता का अबाध विस्तार चाहते हैं, इसलिए दोनों में टकराहट अवश्यंभावी है। जिन देशों में राज्यतंत्र इस संघर्ष में सफल भी हुआ है, वहां स्वयं उसने धर्मतंत्र का स्थान लिया है और समूचे जीवन को उसकी कुंडली की लपेट में आना पड़ रहा है।

इसलिए सवाल राज्य के थियोक्रैटिक या सेकुलर होने का उतना नहीं है जितना यह कि वास्तविक संप्रभु कौन है? गांधीजी की राजनीति यदि थियोक्रैटिक और सेकुलर के खांचों में नहीं अंट पाती और इनसे ऊपर उठकर सत्य या सत्याग्रह की राजनीति हो जाती है तो इसलिए कि वह अपनी मूल प्रेरणा में सदैव धार्मिक रहते हुए भी किसी धर्मतंत्र से प्रभावित नहीं होती। यही कारण है कि अपने को एक परंपरावादी हिंदू मानते हुए भी गांधीजी अस्पृश्यता जैसे सामाजिक अन्यायों का विरोध और वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार करते हुए भी अंतरजातीय विवाहों, यहां तक कि हरिजन के साथ सवर्ण के विवाह का मुक्त मन से समर्थन कर सके। व्यक्ति, राज्य और समाज—तीनों के लिए यह समझना आवश्यक है कि वास्तविक संप्रभु सत्य है और उसका प्रमाण व्यक्ति और समाज की अंतरात्मा है। राज्यतंत्र और धर्मतंत्र दोनों बाह्य नियमानुशासन हैं जिन्हें समय-समय पर सत्य अर्थात् अहिंसा और प्रेम की कसौटी पर परखते रहना आवश्यक हो जाता है।

इस अहिंसामूलक आध्यात्मिक संवेदना से प्रेरित गांधीजी की राजनीतिक संवेदना से राज्य की जिस अवधारणा का विकास होता है वह न थियोक्रैटिक है, न सेकुलर—बल्कि वह एक सत्याग्रही राज्य है और सत्याग्रही होने की वजह से ही वह संप्रभुता-संपन्न नहीं रहता। संप्रभुता कहीं रहती है तो समाज में और समाज तभी प्रामाणिक समाज है जब वह अपनी अभिवृत्ति और आचरण में अहिंसा से प्रेरित है। दरअसल, हमें एक धर्मतंत्रीय या धर्मनिरपेक्ष राज्य की नहीं, सत्याग्रही राज्य की जरूरत है क्योंकि सत्य ही धर्म की कसौटी है और धर्म है सत्य का आचरण। ❖

जैन परंपरा के अनुसार आगम पौरुषेय हैं। मीमांसक जिस प्रकार वेद को अपौरुषेय मानता है, जैन की मान्यता उससे सर्वथा भिन्न है। उसके अनुसार कोई ग्रंथ अपौरुषेय हो ही नहीं सकता है तथा ऐसे किसी भी ग्रंथ का प्रामाण्य भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। जितने भी ग्रंथ हैं, उनके कर्ता अवश्य हैं।

जैन परंपरा में तीर्थंकर सर्वोत्कृष्ट प्रामाणिक पुरुष हैं। उनके द्वारा अभिव्यक्त प्रत्येक शब्द स्वतःप्रमाण है। वर्तमान में उपलब्ध संपूर्ण जैन आगम अर्थ की दृष्टि से तीर्थंकर से जुड़ा हुआ है। अर्थागम के कर्ता तीर्थंकर हैं एवं सूत्रागम के कर्ता गणधर एवं स्थविर हैं।

जैन आगम साहित्य : उद्भव और सर्वमान्यता

समणी मंगलप्रज्ञा

पिछले दो अंकों (सितंबर-अक्टूबर) में जैन भारती के सुधी पाठकों के लिए जैन आगम साहित्य पर व्यापक दृष्टिपात किया गया। पाठकों को अब तक आगम साहित्य की वाचना, आगम-विच्छेद क्रम, आगमों का वर्गीकरण, आचारांग, द्वादशांगी, सूत्रकृतांग और अनुयोग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, अंतकृतदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाक सूत्र और दृष्टिवाद पर पर्याप्त जानकारी पिछले दो अंकों में दी गई। प्रस्तुत है इस आलेख की तीसरी और अंतिम कड़ी—

जैन आगम साहित्य का प्राचीन वर्गीकरण अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य—इन दो विभागों में उपलब्ध है। उपांग का नाम-वर्गीकरण प्राचीनकाल में नहीं था। नंदीसूत्र में उपांग का उल्लेख नहीं है। नंदी से पहले के भी किसी आगम में उपांग की कोई चर्चा नहीं है। तत्त्वार्थभाष्य में उपांग शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] उपलब्ध प्रयोगों में संभवतः यह सर्वाधिक प्राचीन है, किंतु यहां द्रष्टव्य है कि तत्त्वार्थभाष्य में श्रुतज्ञान के अंगबाह्य एवं अंगप्रविष्ट ये दो भेद किए हैं तथा संभव है—वहां अंगबाह्य के लिए उपांग शब्द का प्रयोग हुआ हो, किंतु अंगबाह्य के भेदरूप में जिन ग्रंथों के नाम वहां उल्लिखित हैं, उनमें से एक भी नाम वर्तमान में प्रचलित उपांगों का नहीं है। अतः नाम साम्य के आधार पर हम उपांग व्यवस्था को तत्त्वार्थभाष्य जितना प्राचीन नहीं मान सकते। भाष्यकार एक स्थान को छोड़कर सर्वत्र अंगबाह्य शब्द का ही प्रयोग करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि वर्तमान में प्रचलित आगम-वर्गीकरण की व्यवस्था पर्याप्त अर्वाचीन है। वर्तमान में जिन उपांगों का उल्लेख है तथा उनका संबंध क्रमशः एक-एक अंग के साथ जोड़ा गया है, इसकी चर्चा जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति की वृत्ति तथा निरयावलिका के वृत्तिकार श्रीचंद्रसूरि द्वारा रचित सुखबोधा समाचारी नामक ग्रंथ में मिलती है।[2] संभव है, इन उत्तरवर्ती आचार्यों ने 'उपांग' शब्द का ग्रहण तत्त्वार्थभाष्य से कर लिया हो तथा वैदिक साहित्य में वेद में अंग, उपांगों का उल्लेख है, अतः वैसी ही किसी व्यवस्था को ध्यान में रखकर अंगों के साथ उपांगों की योजना की हो।

वर्तमान में मान्य बारह उपांगों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

1. **औपपातिक**—बारह उपांगों में यह प्रथम उपांग है। इसको आचारांग का उपांग माना जाता है। औपपातिक का मुख्य विषय पुनर्जन्म है। उपपात के प्रकरण में अमुक प्रकार

के आचरण से अमुक प्रकार का आगामी उपपात होता है, यही विषय मुख्य रूप से चर्चित है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य उपपात है। उस मुख्य प्रतिपाद्य के आधार पर प्रस्तुत सूत्र का नाम **ओवाइयं** किया गया है।

2. **राजप्रश्नीय**—यह दूसरा उपांग है। इसको सूत्रकृतांग का उपांग माना जाता है। प्रस्तुत सूत्र का सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख नंदी सूत्र में मिलता है। वहां इसका नाम **रायपसेणियं** है।[3] राजा प्रदेशी ने केशीस्वामी से प्रश्न पूछे थे। प्रस्तुत सूत्र में उनका वर्णन है। अतः इसका नाम **राजप्रश्नीय** है।[4]

3. **जीवाजीवाभिगम**—इस तीसरे उपांग का संबंध स्थानांग से माना गया है। इसमें जीव और अजीव—इन दो मूलभूत तत्त्वों का प्रतिपादन है। इसलिए इसका नाम **जीवाजीवाभिगम** रखा गया है। इसमें नौ प्रकरण हैं। इनमें जीवों के संख्यापरक वर्गीकरण किए गए हैं। प्रस्तुत आगम की रचना स्थविरों ने की है। इसका आगम के प्रारंभ में स्पष्ट निर्देश है।[5]

4. **प्रज्ञापना**—प्रज्ञापना में जीव और अजीव—इन दो तत्त्वों का विस्तार से वर्णन है। इसके प्रथम पद का नाम प्रज्ञापना है। संभवतः इस आदि पद के कारण ही इसका नाम प्रज्ञापना रखा गया है। प्रज्ञापना का एक कार्य प्रश्नोत्तर के माध्यम से तत्त्व का प्रतिपादन करना है। प्रस्तुत आगम में प्रश्नोत्तर के द्वारा तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, इसलिए भी इसका नाम प्रज्ञापना हो सकता है।

प्रस्तुत आगम तत्त्वज्ञान का आकर ग्रंथ है। इसके अध्ययन से भारतीय तत्त्वविद्या के गहन स्वरूप को समझा जा सकता है। अंगबाह्य की संबंध योजना निर्धारित की गई। उसके अनुसार प्रज्ञापना समवायांग का उपांग है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मत है कि यदि प्रज्ञापना को भगवती का उपांग माना जाता तो अधिक बुद्धिगम्य होता। प्रज्ञापना के कर्ता आचार्य श्याम हैं। इसका रचनाकाल वीर निर्वाण के 335 से 375 के बीच का संभव है।

5. **जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति**—यह पांचवां उपांग है तथा इसको भगवती का उपांग माना जाता है। प्रज्ञप्ति का अर्थ है—व्याकरण, उत्तर या निरूपण। इसमें जंबूद्वीप का निरूपण है, इसलिए इसका नाम **जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति** है। जैसे अंगों का क्रम निर्धारित है वैसे ही उपांगों का क्रम भी निर्धारित है। पहला अंग आचारांग है तो उसका उपांग भी प्रथम क्रम वाला ही होगा।

6-7. **चंद्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति**—प्रथम प्रज्ञप्ति में चंद्र की वक्तव्यता है, इसलिए उसका नाम **चंद्रप्रज्ञप्ति** है और द्वितीय प्रज्ञप्ति में सूर्य की वक्तव्यता है, इसलिए इसका नाम **सूर्यप्रज्ञप्ति** है। चंद्रप्रज्ञप्ति वर्तमान में प्रायः उपलब्ध नहीं है। उसका थोड़ा-सा प्रारंभिक भाग मिलता है। यद्यपि कुछ हस्तलिखित आदर्श 'चंद्रप्रज्ञप्ति' के नाम से उपलब्ध होते हैं और कुछ आदर्श सूर्यप्रज्ञप्ति के नाम से मिलते हैं, किंतु प्रारंभिक सूत्र को छोड़कर इनका पाठ एक जैसा है। वर्तमान धारणा के अनुसार चंद्रप्रज्ञप्ति आज उपलब्ध नहीं है। जो उपलब्ध है वह सूर्यप्रज्ञप्ति है।

8-12. **निरयावलिका**—प्रस्तुत आगम एक श्रुतस्कंध है। इसका प्राचीनतम नाम उपांग प्रतीत होता है। जंबूस्वामी के उपांग संबंधी प्रश्न के उत्तर में सुधर्मास्वामी ने उपांग के पांच वर्ग बताए— निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा।[6]

'निरयावलिका' का दूसरा नाम 'कल्पिका' है। यह संभावना की जा सकती है कि 'उवंगा' के प्रथम वर्ग का नाम **'कल्पिका'** था, किंतु नरक-परिणाम वाले कर्मों का वर्णन होने के कारण इसका दूसरा नाम 'निरयावलिका' रख दिया गया। इस प्रकार प्रथम वर्ग के दो नाम हो गए—निरयावलिका और कल्पिका।

निरयावलिका श्रुतस्कंध का प्रतिपाद्य विषय है—शुभ-अशुभ आचरण, शुभ-अशुभ कर्म और उनका विपाक।

निरयावलिका से वृष्णिदशा तक के पांच उपांग पहले एक ही ग्रंथ के रूप में रहे हों। संभवतः जब उपांगों के संदर्भ में बारह की संख्या योजित की तब उनका अलग से परिगणन होने लगा हो। यह विंटरनित्ज का अभिमत है।[7]

9. **कल्पावतंसिका**—इसमें पद्म, महापद्म नाम के दस अध्ययन हैं, उनमें से इन्हीं नाम वाले दस राजकुमारों का वर्णन है।

10. **पुष्पिका** में भी चंद्र, सूर आदि दस अध्ययन हैं।

11. **पुष्पचुला** में भी सिरि, हिरि आदि दस अध्ययन हैं।

12. **वृष्णिदशा** में निषढ, माआणि आदि बारह अध्ययन हैं।

इन सभी उपांगों में पौराणिक कथानकों का वर्णन हुआ है। उन पात्रों के इहभव-परभव की स्थिति का उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथों में है।

मूलसूत्र

जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं कि 1. अंग 2. उपांग 3. मूल और 4. छेद—यह वर्गीकरण बहुत प्राचीन नहीं है। विक्रम की 13-14वीं शताब्दी से पूर्व इस वर्गीकरण का उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

मूलसूत्रों की संख्या और नामों के संदर्भ में श्वेतांबर संप्रदायों में एकरूपता नहीं है। जहां तक उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का प्रश्न है, इन्हें सभी श्वेतांबर संप्रदायों एवं आचार्यों ने एकमत से मूलसूत्र माना है। स्थानकवासी एवं तेरापंथी आवश्यक एवं पिंडनिर्युक्ति को मूलसूत्र के अंतर्गत नहीं मानते हैं। वे नंदी और अनुयोगद्वार को मूलसूत्र मानते हैं। श्वेतांबर मूर्तिपूजक परंपरा में कुछ आचार्यों ने पिंडनिर्युक्ति के साथ-साथ ओघनिर्युक्ति को भी मूलसूत्र में माना है।

ये ग्रंथ मूलसूत्र क्यों कहे जाते हैं—इसका स्पष्टीकरण उपलब्ध नहीं है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार 'चूर्णिकालीन श्रुत-पुरुष की स्थापना के अनुसार मूल स्थानीय (चरण स्थानीय) दो सूत्र हैं—1. आचारांग और 2. सूत्रकृतांग। परंतु जिस समय पैंतालीस आगमों की कल्पना स्थिर हुई, उस समय श्रुत-पुरुष की स्थापना में भी परिवर्तन हुआ और श्रुत-पुरुष की अर्वाचीन प्रतिकृतियों में दशवैकालिक और उत्तराध्ययन—ये दो सूत्र चरण स्थानीय माने जाने लगे।[8] उपर्युक्त अवधारणा से मूल का अर्थ हो जाता है—चरण। उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक को चरण स्थानीय मानकर मूल कहा जा सकता है, किंतु मूलसूत्रों की संख्या कम-से-कम चार तो सबने मानी है, कुछ ने अधिक भी मानी है। उन अन्य ग्रंथों का मूलसूत्र में समावेश करने की युक्ति अब भी अन्वेषणीय है।

अंग और उपांग की संख्या सभी श्वेतांबर जैनों ने एक जैसी मानी है, किंतु मूल, छेद आदि की संख्या में उनमें मतैक्य नहीं है। श्वेतांबर मूर्तिपूजक के अनुसार मूलसूत्र—1. उत्तराध्ययन 2. दशवैकालिक 3. आवश्यक 4. पिंड-निर्युक्ति हैं। किसी ने ओघनिर्युक्ति को भी मूल माना है।

स्थानकवासी एवं तेरापंथी के अनुसार मूल सूत्र—1. उत्तराध्ययन 2. दशवैकालिक 3. अनुयोगद्वार एवं 4. नंदी हैं।

श्वेतांबर मूर्तिपूजक परंपरा अनुयोगद्वार एवं नंदी को चूलिका सूत्र के अंतर्गत मानती है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि संपूर्ण श्वेतांबर परंपरा अनुयोगद्वार एवं नंदी को आगम श्रृंखला में स्वीकार करती है, भले ही उनका समावेश भिन्न-भिन्न प्रकार से क्यों न किया गया हो।

छेदसूत्र

छेदसूत्रों में जैन साधुओं के आचार से संबंधित विषय का पर्याप्त विवेचन किया गया है। इस विवेचन को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—उत्सर्ग, अपवाद, दोष और प्रायश्चित्त। उत्सर्ग का अर्थ है—किसी विषय का सामान्य विधान। अपवाद का अर्थ है—परिस्थिति-विशेष की दृष्टि से विशेष विधान अथवा छूट। दोष का अर्थ है—उत्सर्ग अथवा अपवाद का भंग। प्रायश्चित्त का अर्थ है—व्रतभंग के लिए समुचित दंड। किसी भी विधान अथवा व्यवस्था के लिए ये चार बातें आवश्यक होती हैं।

छेदसूत्रों का जैनागमों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन संस्कृति का श्रमण-धर्म है। श्रमण-धर्म की सिद्धि के लिए आचार-धर्म की साधना अनिवार्य है। आचार-धर्म के गूढ़ रहस्य एवं सूक्ष्मतम क्रियाकलाप को समझने के लिए छेद-सूत्रों का ज्ञान अनिवार्य है। छेदसूत्र के माध्यम से ही जैन आचार की सर्वांगीणता हृदयंगम हो सकती है।

छेदसूत्रों की संख्या के संबंध में श्वेतांबर परंपरा में एकरूपता नहीं है। स्थानकवासी एवं तेरापंथी परंपरा चार छेदसूत्र मानती हैं—1. दशाश्रुतस्कंध 2. बृहत्कल्प 3. व्यवहार एवं 4. निशीथ। जबकि श्वेतांबर मूर्तिपूजक संप्रदाय महानिशीथ एवं जीतकल्प—ये दो सूत्र मिलाकर छह छेदसूत्र मानता है।

आगम साहित्य की संख्या

मूलतः आगम साहित्य अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य—इन दो भागों में विभक्त था। परवर्ती काल में अंगबाह्य आगम पांच भागों में विभक्त हो गया—1. उपांग 2. मूलसूत्र 3. छेदसूत्र 4. चूलिकासूत्र 5. प्रकीर्णक।

आगमों की संख्या के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। उनमें तीन मुख्य हैं—1. चौरासी 2. पैंतालीस. 3. बत्तीस।

11 अंग, 12 उपांग, 4 मूल, 6 छेद, 10 प्रकीर्णक, 2 चूलिकासूत्र—ये पैंतालीस आगम श्वेतांबर मूर्तिपूजक परंपरा में मान्य हैं। स्थानकवासी एवं तेरापंथी इनमें से 10 प्रकीर्णक, जीतकल्प, महानिशीथ और पिंडनिर्युक्ति—इन तेरह ग्रंथों को कम करके बत्तीस आगम मान्य करते हैं।

जो चौरासी आगम मान्य करते हैं वे दस प्रकीर्णकों के स्थान पर तीस प्रकीर्णक मानते हैं। इसके साथ दस

निर्युक्तियों, यतिजीतकल्प, श्राद्धजीतकल्प, पाक्षिकसूत्र, क्षमापनासूत्र, वंदित्तु, तिथिप्रकरण, कवचप्रकरण, संशक्तनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य को भी आगमों में सम्मिलित करते हैं।[9]

दस प्रकीर्णक

प्रकीर्णक अर्थात् विविध। भगवान महावीर के चौदह हजार श्रमण शिष्य थे। नंदी में भगवान महावीर के चौदह हजार ही प्रकीर्णक माने गए हैं।[10] वर्तमान में प्रकीर्णकों की संख्या मुख्यतया दस मानी जाती है। इन दस नामों में भी एकरूपता नहीं है। निम्नलिखित दस नाम विशेष रूप से मान्य हैं—

1. चतुःशरण 2. आतुर-प्रत्याख्यान 3. महा-प्रत्याख्यान 4. भक्तपरिज्ञा 5. तंदुलवैचारिक 6. संस्तारक 7. गच्छाचार 8. गणिविद्या 9. देवेंद्रस्तव 10. मरणसमाधि।

आगमों की बत्तीस संख्या मानने वाले प्रकीर्णक को आगम के अंतर्गत नहीं मानते हैं। पैंतालीस संख्या मानने वाले दस प्रकीर्णक एवं चौरासी संख्या मानने वाले तीस प्रकीर्णक ग्रंथ मानते हैं।

आगम के कर्ता

जैन परंपरा के अनुसार आगम पौरुषेय हैं। मीमांसक जिस प्रकार वेद को अपौरुषेय मानता है, जैन की मान्यता उससे सर्वथा भिन्न है। उसके अनुसार कोई ग्रंथ अपौरुषेय हो ही नहीं सकता है तथा ऐसे किसी भी ग्रंथ का प्रामाण्य भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। जितने भी ग्रंथ हैं, उनके कर्ता अवश्य हैं।

जैन परंपरा में तीर्थंकर सर्वोत्कृष्ट प्रामाणिक पुरुष हैं। उनके द्वारा अभिव्यक्त प्रत्येक शब्द स्वतःप्रमाण है। वर्तमान में उपलब्ध संपूर्ण जैन आगम अर्थ की दृष्टि से तीर्थंकर से जुड़ा हुआ है। अर्थागम के कर्ता तीर्थंकर हैं एवं सूत्रागम के कर्ता गणधर एवं स्थविर हैं।

अर्थ का प्रकटीकरण तीर्थंकरों द्वारा होता है। गणधर उसे शासन के हित के लिए सूत्र रूप में गुंफित कर लेते हैं।[11] गणधर केवल द्वादशांगी की रचना करते हैं। अंगबाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं।[12] वे गणधरकृत आगम से ही निर्यूहण करते हैं।[13] स्थविर दो प्रकार के होते हैं—1. चतुर्दशपूर्वी 2. दशपूर्वी। ये सदा निर्ग्रंथ प्रवचन को आगे करके चलते हैं। एतदर्थ उनके द्वारा रचित ग्रंथों में द्वादशांगी से विरुद्ध तथ्यों की संभावना नहीं होती। अतः इनको भी जैन परंपरा आगम के कर्ता के रूप में स्वीकार करती है। प्रत्येकबुद्ध रचित आगमों का प्रामाण्य भी जैन परंपरा में स्वीकृत है, जिसकी चर्चा हम आगम प्रामाण्य के अंतर्गत करेंगे। आवश्यकनिर्युक्ति में उल्लेख प्राप्त होता है कि 'तप, नियम, ज्ञान-रूप वृक्ष पर आरूढ़ होकर अनंतज्ञानी केवली भगवान भव्य आत्माओं के बोध के लिए ज्ञान-कुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धिपटल में उन सभी कुसुमों का अवतरण कर प्रवचन-माला में गूंथते हैं।[14] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन आगमों के कर्ता तीर्थंकर, गणधर एवं स्थविर हैं।

आगम स्वीकृति का मानदंड

जैन ग्रंथों की संख्या में जब विकास होने लगा, तब एक प्रश्न उपस्थित हुआ कि किन ग्रंथों को आगम माना जाए। सभी को तो आगम माना नहीं जा सकता है। तब एक कसौटी का निर्धारण हुआ। अर्थरूप से तीर्थंकर-प्रणीत, सूत्ररूप से गणधर-प्रणीत, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी एवं प्रत्येक-बुद्ध द्वारा कथित वचन ही आगम कहे जा सकते हैं।[15] जब दशपूर्वी नहीं रहे, तब आगम की संख्या-वृद्धि भी स्वतः स्थगित हो गई। यद्यपि श्वेतांबर परंपरा में आगम रूप में मान्य कुछ प्रकीर्णक ऐसे भी हैं जो दशपूर्वों से कम ज्ञान वालों द्वारा रचित है, फिर भी उनको आगम रूप में मान्यता प्राप्त है। ऐसा कुछ विशेष स्थिति में हुआ।

आगम का प्रामाण्य

वर्तमान में ग्यारह अंग उपलब्ध हैं। बारहवां अंग दृष्टिवाद विच्छिन्न है। रचना की दृष्टि से बारह अंग गणधरकृत हैं, इसलिए इनका प्रामाण्य असंदिग्ध है। अंग स्वतःप्रमाण है। सब स्थविरों की रचना का प्रामाण्य नहीं माना जाता। जिनकी रचना का प्रामाण्य माना जाता है, उनके लिए पूर्वज्ञान की सीमा निर्धारित है। अभिन्नदशपूर्व तक के धारक का सम्यक् श्रुत होता है, यह नंदी में वर्णित है।[16] नंदीसूत्र में इस वक्तव्य के आधार पर संपूर्ण दशपूर्वी तक के वचनों का प्रामाण्य जयाचार्य ने भी स्वीकार किया है।[17] भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् अर्वाचीन आचार्यों ने ग्रंथ रचे, तब संभव है उन्हें आगम की कोटि में रखने या न रखने की चर्चा चली और उनके प्रामाण्य और अप्रामाण्य का प्रश्न भी उठा। चर्चा के बाद चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी स्थविरों द्वारा रचित ग्रंथों को आगम की कोटि में रखने का निर्णय हुआ। किंतु, उन्हें स्वतःप्रमाण नहीं माना गया। उनका प्रामाण्य परतः था। वे द्वादशांगी से अविरुद्ध हैं, इस कसौटी से कसकर उन्हें आगम की संज्ञा दी गई। उनका परतः प्रामाण्य

था, इसलिए उन्हें अंगप्रविष्ट की कोटि से भिन्न रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस स्थिति के संदर्भ में आगम की अंगबाह्य कोटि का उद्भव हुआ।[18]

आगमों का अनुयोग में विभक्तिकरण

आगमों की व्याख्या 'अपृथक्त्वानुयोग' एवं 'पृथक्त्वानुयोग'—उभय प्रकार से की जा सकती है। आर्यरक्षित से पूर्व आगमों की व्याख्या 'अपृथक्त्वानुयोग' से प्रचलित थी, अर्थात् एक ही सूत्र की व्याख्या चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग एवं द्रव्यानुयोग—इन चारों अनुयोग से करना 'अपृथक्त्वानुयोग' है। यह व्याख्याक्रम बहुत जटिल और बुद्धि-स्मृति सापेक्ष था। आर्यरक्षित ने देखा—दुर्बलिका पुष्यमित्र जैसा मेधावी मुनि भी इस व्याख्याक्रम को याद रखने में श्रांत-क्लांत हो रहा है तो अल्पमेधा वाले इसे कैसे याद रख पाएंगे? उन्होंने पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन कर दिया अर्थात् अमुक सूत्र की व्याख्या अमुक अनुयोग से ही होगी। एक सूत्र की व्याख्या एक ही अनुयोग से होगी।[19] यही पृथक्त्वानुयोग है। उन्होंने उपलब्ध आगम का पृथक्-पृथक् अनुयोग के साथ संबंध स्थापित कर दिया। जैसे—चरणकरणानुयोग में कालिकश्रुत, ग्यारह अंग, महाकल्पश्रुत और छेदसूत्रों का समावेश किया। धर्मकथानुयोग में ऋषिभाषित, गणितानुयोग में सूर्यप्रज्ञप्ति और द्रव्यानुयोग में दृष्टिवाद का समावेश किया गया।[20] आर्यरक्षित ने आगम अध्ययन की परंपरा में एक नया सूत्रपात किया। इसके फलस्वरूप अध्येताओं को तो सुविधा हुई, किंतु आगम का उत्तरोत्तर ह्रास भी होने लगा।

आगमों की भाषा

जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी है। भगवान महावीर अर्धमागधी भाषा में धर्म का व्याख्यान करते थे।[21] अर्धमागधी प्राकृत भाषा का ही एक रूप है। इस भाषा को देवभाषा कहा गया है, अर्थात् देवता अर्धमागधी भाषा में बोलते हैं।[22] प्रज्ञापना में इस भाषा में प्रयोग करने वाले को भाषार्य कहा गया है।[23] यह मगध के आधे भाग में बोली जाती थी तथा इसमें अठारह देशी भाषाओं के लक्षण मिश्रित हैं। इसमें मागधी शब्दों के साथ-साथ देश्य शब्दों की भी प्रचुरता है। इसलिए यह अर्धमागधी कहलाती है।[24] भगवान महावीर के शिष्य मगध, मिथिला, कौशल आदि अनेक प्रदेशों, वर्गों और जातियों के थे। इसलिए जैन साहित्य की प्राचीन प्राकृत में देश्य शब्दों की बहुलता है। मागधी और देश्य शब्दों का मिश्रण अर्धमागधी कहलाता है—यह चूर्णि का मत संभवतः सबसे प्राचीन है। इसे आर्ष भी कहा गया है।[25] ठाणं में संस्कृत और प्राकृत को ऋषिभाषित कहा गया है।[26] षट्प्राभृत टीका के अनुसार जिसमें आधे शब्द मगध देश की भाषा के हों और आधे शब्द अन्य सब भाषाओं के हों, उसे अर्धमागधी कहा जाता है।[27] श्वेतांबर जैन आगमों की भाषा को अर्धमागधी अथवा प्राचीन प्राकृत कहा जाता है।

वस्तुतः प्राकृत भाषा की सामान्य प्रकृति सदा परिवर्तित होती रहती है। जैसे जैन आगमों की भाषा संस्कृत से भिन्न लोकभाषा प्राकृत कहलाई और जैसे-जैसे लोकभाषा में परिवर्तन हुए, वैसे ही जैन आगमों की भाषा भी परिवर्तित होती गई। जैन धर्म अपने मूल केंद्र स्थल मगध से पश्चिम और दक्षिण की ओर फैलता गया, वैसे-वैसे उन-उन क्षेत्रों में प्रचलित भाषा के शब्दों और रूपों का प्राकृत में समावेश होता गया। यद्यपि जैन आगमों की भाषा प्राचीनकाल में अर्धमागधी थी, यह तथ्य स्वयं आगमों से ही समर्थित है, किंतु वर्तमान में उपलब्ध आगम साहित्य में अर्धमागधी के लक्षण यथावत विद्यमान नहीं हैं। जैन आगम साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान स्वर्गीय मुनि पुण्यविजयजी ने बृहत्कल्प की प्रस्तावना में लिखा है कि—'प्राचीनतम विविध प्रतियों को सामने रखने से उनमें भाषा और उसके प्रयोग विषयक विविधता देखने में आती है। निर्युक्ति, भाष्य, महाभाष्य, चूर्णि आदि में प्रचुर मात्रा में पाठभेद और पाठविकार दिखाई देते हैं। निर्युक्ति और भाष्य परस्पर मिश्रित हो गए हैं। ऐसी स्थिति में जैन आगमों की मौलिक भाषा अर्धमागधी का अन्वेषण करना कठिन हो गया है।'[28] मुनि पुण्यविजयजी ने ही नंदी और अणुओगदाराइं की प्रस्तावना में इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'श्वेतांबर जैन आगमों की भाषा प्राचीनकाल में अर्धमागधी थी, यह बात स्वयं आगमों के उल्लेख से पता चलती है, पर आज वैयाकरण जिसे महाराष्ट्री प्राकृत कहते हैं—यह प्राकृत उस भाषा के नजदीक है। अतः आधुनिक विद्वान इसे जैन महाराष्ट्री कहते हैं। आगमों में भाषाभेद के स्तर स्पष्ट रूप से विशेषज्ञों को ज्ञात हैं। उदाहरण के लिए आचारांग के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध की भाषा में स्पष्ट रूप से कालभेद दिखाई देता है। इसी प्रकार सूत्रकृतांग और भगवतीसूत्र के भाषारूपों में पूर्वोत्तर भाव स्पष्ट हैं। भगवती के बाद की भाषा के स्थिर रूप ज्ञाताधर्मकथा आदि में देखने को आते हैं।[29]

बौद्धों के हीनयान संप्रदाय द्वारा स्वीकृत त्रिपिटकों की पालि तथा जैन आगमों की अर्धमागधी का उत्तरकालीन

वैयाकरणों ने मागधी भाषा के रूप में उल्लेख किया है। वैयाकरणों ने अर्धमागधी के जिन लक्षणों का प्रतिपादन किया है उन लक्षणों की उपलब्धि वर्तमान में प्राप्त जैन आगमों में कहीं-कहीं ही है। सारे लक्षण इसमें घटित ही नहीं हो रहे हैं। आचार्य हेमचंद्र ने प्राकृत व्याकरण में स्पष्ट कहा है कि उनके व्याकरण के सब नियम आर्ष भाषा में लागू नहीं होते, क्योंकि उसमें बहुत-से अपवाद हैं।[30] जैनों ने अर्धमागधी को अथवा वैयाकरणों ने आर्ष भाषा को मूल भाषा स्वीकार किया है, जिससे अन्य भाषाओं और बोलियों का उद्गम हुआ। जैन परंपरा के अनुसार अर्धमागधी भाषा आर्य, अनार्य, पशु, पक्षी सबकी भाषा में परिणत हो जाती है।[31]

वर्तमान में उपलब्ध जैन आगमों की भाषा भगवान महावीर के निर्वाण के 1000 वर्ष बाद की है। दीर्घकाल के इस व्यवधान में समय-समय पर जो आगम वाचनाएं हुईं, उनमें आगम ग्रंथों की भाषा में निश्चय ही काफी परिवर्तन हो गया होगा। आगम के टीकाकारों का ध्यान इस ओर गया भी है। 'उनके ग्रंथों में विविध पाठांतरों का प्राप्त होना भाषा के परिवर्तित होने का प्रमाण है। टीकाकारों को सूत्रार्थ स्पष्ट करने के लिए आगमों की मूल भाषा में काफी परिवर्तन और संशोधन करना पड़ा है। उदाहरण के लिए, कल्पसूत्र की प्राचीन प्रतियों में कहीं पर 'य' श्रुति मिलती है, तो कहीं नहीं भी मिलती है। कहीं 'य' श्रुति के स्थान पर 'इ' का प्रयोग देखने में आता है। कहीं ह्रस्व स्वर का प्रयोग और कहीं पर ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ स्वर का प्रयोग देखा जाता है।'[32] जैन आगमों की भाषा के संबंध में हम इतना कह सकते हैं कि उनकी मूल भाषा अर्धमागधी थी, किंतु काल के प्रलंब प्रवाह में उसमें अत्यधिक परिवर्तन आया है, जिससे उसके मूल स्वरूप को प्रकट करना दुरूह हो गया है।

आगमों का व्याख्या साहित्य

भगवान महावीर की वाणी के रूप में विश्रुत जैन आगम साहित्य का जैन धर्म-दर्शन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी महत्ता का अवबोध उस पर लिखे गए विपुल साहित्य के अवलोकन से होता है। आगम साहित्य पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, अवचूरी, विवरणिका, दीपिका, टब्बा आदि विपुल मात्रा में व्याख्यात्मक साहित्य लिखा गया है। आगमों का व्याख्यात्मक साहित्य मुख्य रूप से चार भागों में विभक्त है—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका। इन चारों के साथ मूल आगमों को जोड़ देने से जैन आगम साहित्य पंचांगी नाम से अभिहित होता है। प्रस्तुत प्रकरण में हम निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे।

निर्युक्ति

जैन आगमों की प्राचीनतम व्याख्या निर्युक्ति साहित्य को माना जाता है। आगम साहित्य का प्राकृत भाषा में निबद्ध पद्यात्मक व्याख्या ग्रंथ निर्युक्ति है। सूत्र में निश्चित किया हुआ अर्थ जिसमें निबद्ध हो, उसे निर्युक्ति कहा जाता है।[33] निर्युक्ति स्वतंत्र शास्त्र नहीं है, किंतु वह अपने सूत्र के अधीन है।[34] निर्युक्ति आगमों पर आर्या छंद में प्राकृत गाथाओं में लिखा हुआ संक्षिप्त विवेचन है। उपलब्ध निर्युक्तियों का अधिकांश भाग भद्रबाहु द्वितीय की रचना है।[35] उनका समय विक्रम की पांचवीं या छठी शताब्दी माना जाता है। आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार, सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित—इन दस ग्रंथों पर निर्युक्तियां लिखी गई हैं।[36] सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित की निर्युक्तियां अनुपलब्ध हैं। पिंडनिर्युक्ति एवं ओघनिर्युक्ति का भी उल्लेख प्राप्त है तथा श्वेतांबर मूर्तिपूजक संप्रदाय इनका परिगणन मूलसूत्र के रूप में करता है। निर्युक्तियां संक्षिप्त हैं, फिर भी उनमें दार्शनिक एवं तात्त्विक चर्चा बहुत ही सुंदर ढंग से हुई। अनेक ऐतिहासिक, पौराणिक तथ्य भी निर्युक्तियों में उपलब्ध हैं। संक्षिप्त और पद्यबद्ध होने के कारण निर्युक्तियों को आसानी से कंठस्थ किया जा सकता था और धर्मोपदेश के समय इनमें से कथा आदि के उद्धरण दिए जा सकते थे, इसलिए इनकी उपयोगिता स्वतःसिद्ध थी।

भाष्य

निर्युक्ति साहित्य की तरह ही भाष्य साहित्य भी प्राकृत भाषा में संक्षिप्त शैली में गाथाओं में निबद्ध है। भाष्यकारों में प्रसिद्ध संघदासगणी और जिनभद्रगणी हैं। भाष्य साहित्य में निशीथभाष्य, व्यवहारभाष्य, बृहत्कल्प-भाष्य, विशेषावश्यकभाष्य आदि भाष्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाष्य साहित्य में जैन चिंतन का प्रस्फुटन प्रखरता से हुआ है। आगमों के गहन-गंभीर तथ्यों का युक्तिपुरस्सर कथन भाष्य साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण विरचित विशेषावश्यकभाष्य में दार्शनिक चिंतन का विवेचन बहुत यौक्तिक ढंग से हुआ। दर्शन के प्रायः सभी पहलुओं पर जिनभद्रगणी ने ध्यान आकृष्ट किया है।

बृहत्कल्पभाष्य में संघदासगणी ने साधुओं के आहार, विहार आदि नियमों की विचारणा दार्शनिक तरीके

से की है। लघु, मध्य एवं बृहत्—तीनों ही आकार के भाष्य लिखे गए हैं। निर्युक्ति एवं भाष्य की भाषा में पद्यात्मकता आदि समानता होने से कुछ भाष्य और निर्युक्तियों का इतना मिश्रण हो गया है कि उनका पृथक्करण अशक्य जैसा हो गया है।

चूर्णि

आगमों के व्याख्या साहित्य में चूर्णि साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चूर्णियां गद्य में लिखी गई हैं। इनकी भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत है, अतः इस साहित्य का क्षेत्र निर्युक्ति एवं भाष्य की अपेक्षा अधिक व्यापक था। लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दी की चूर्णियां उपलब्ध होती हैं। चूर्णिकारों में जिनदास महत्तर प्रसिद्ध हैं। चूर्णियों में मुख्यतः भाष्य के ही विषय को संक्षेप में गद्य रूप में लिखा गया है। आचारांग, सूत्रकृतांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, कल्प, व्यवहार, निशीथ, पंचकल्प, दशाश्रुतस्कंध, जीतकल्प, जीवाभिगम, प्रज्ञापनाशरीरपद, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, नंदी और अनुयोगद्वार पर चूर्णियां उपलब्ध हैं। चूर्णियों में लौकिक, धार्मिक अनेक कथाएं दी हैं, प्राकृत भाषा में शब्दों की व्युत्पत्ति दी है तथा संस्कृत और प्राकृत के अनेक पद्य इनमें उद्धृत हैं। चूर्णि साहित्य का अध्ययन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

टीका

आगमों का व्याख्या साहित्य प्राकृत, संस्कृत एवं क्षेत्रीय भाषा में उपलब्ध है। निर्युक्ति एवं भाष्य प्राकृत भाषा में लिखे गए। प्रारंभ से ही जैन चिंतकों का यह लक्ष्य रहा कि उनका साहित्य जन-सामान्य के लिए भी सहज ग्राह्य रहे। इसके लिए उन्होंने तत्काल-प्रचलित भाषा का अवलंबन अपने साहित्य निर्माण में लिया। चूर्णि साहित्य में भाषा के परिवर्तन की भूमिका बन जाती है। उसमें प्राकृत एवं संस्कृत भाषा का मिश्रण हो जाता है। कालप्रवाह में जैन साहित्यकारों का आकर्षण संस्कृत भाषा की तरफ हुआ और जैन आगमों पर संस्कृत व्याख्याएं लिखी जाने लगीं। जिनको टीका कहा जाता है।

जैन आगमों की उपलब्ध प्राचीन संस्कृत टीकाओं के कर्ता आचार्य हरिभद्र हैं। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नंदी, अनुयोगद्वार आदि पर टीकाएं लिखी हैं। इन टीकाओं में लेखक ने चूर्णियों के प्रायः कथा भाग को प्राकृत भाषा में ही उद्धृत किया है। इन्होंने जैन तत्त्व-ज्ञान का गंभीर विवेचन प्रस्तुत करने में अपने दार्शनिक ज्ञान का भरपूर उपयोग किया है। इनका समय ईस्वी सन् 705-775 माना जाता है।

हरिभद्र के पश्चात् शीलांकसूरि ने आचारांग और सूत्रकृतांग पर संस्कृत में महत्त्वपूर्ण टीकाओं की रचना की। शीलांक के उत्तरवर्ती शांत्याचार्य ने उत्तराध्ययन पर बृहद्वृत्ति लिखी। इसके बाद प्रसिद्ध टीकाकार अभयदेवसूरि ने नौ अंगों पर टीकाओं की रचना करके जैन आगम साहित्य की महत्त्वपूर्ण सेवा की। ये नवांगी टीकाकार कहलाए। मल्लधारी हेमचंद्र का नाम भी टीकाओं की रचना में उल्लेखनीय है। आगमों की संस्कृत में टीका करने वालों में सर्वश्रेष्ठ स्थान आचार्य मलयगिरि को प्राप्त है। प्रांजल भाषा में दार्शनिक चर्चा से युक्त गंभीर तत्त्वों का विवेचन उनकी टीका में प्राप्त है। जैन आगमों के कर्म, आचार, ज्ञान आदि प्रायः सभी विषयों पर उन्होंने विशदता से लिखा है।

जैन आगमों का व्याख्यात्मक साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है। जैन तत्त्व-मीमांसा के अतिरिक्त सम-सामइक परिस्थितियों का आकलन भी उस साहित्य के माध्यम से किया जा सकता है।

दिगंबर आम्नाय मान्य आगम

दिगंबर परंपरा के अनुसार आगम के दो भेद हैं—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगबाह्य के सामायिक, चतुर्विंशति आदि चौदह भेद हैं तथा अंगप्रविष्ट के आचार, सूत्रकृत आदि वे ही बारह भेद हैं जो श्वेतांबर परंपरा में मान्य हैं, केवल ज्ञाताधर्मकथा नाम के स्थान पर नाथधर्मकथा नाम का भी उल्लेख है। दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र आदि पांच अधिकार हैं। परिकर्म के पांच भेद बतलाए गए हैं—चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति एवं व्याख्याप्रज्ञप्ति। सूत्र अधिकार में जीव तथा त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषार्थवाद का वर्णन है। प्रथमानुयोग में पुराणों का उपदेश है। पूर्वगत अधिकार में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य का कथन है। इनकी संख्या चौदह है। जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता—ये पांच चूलिका के भेद हैं।[37]

श्वेतांबर परंपरा में मान्य परिकर्म, सूत्र आदि के भेदों, नामों एवं विषय-वस्तु की दृष्टि से इनकी पर्याप्त भिन्नता है। समवायांग में सिद्धश्रेणिका, मनुष्यश्रेणिका आदि सात प्रकार का परिकर्म माना है।[38] ऋजुक, परिणतापरिणति आदि के भेद से सूत्र को अट्ठासी प्रकार का माना है।[39] दिगंबर जिसको प्रथमानुयोग कहते हैं—श्वेतांबर परंपरा में उसका नाम अनुयोग है। मूलप्रथमानुयोग एवं कंडिकानुयोग—ये दो उस अनुयोग के भेद हैं।[40] पूर्वगत में चौदह पूर्वों का उल्लेख दोनों परंपराओं में है। श्वेतांबर परंपरा में ग्यारहवें पूर्व का

नाम 'अवंझ' है,[41] दिगंबर परंपरा में उसका 'कल्याणवाद' नाम है। श्वेतांबर परंपरा में चूलिका के संदर्भ में उल्लेख आता है कि प्रथम चार पूर्वों में चूलिकाएं हैं, शेष पूर्वों में चूलिकाएं नहीं हैं।[42] चूलिकाओं का पूर्वों में समावेश हो जाता है, जबकि दिगंबरों के अनुसार चूलिका का पूर्वों से कोई संबंध नहीं है। दिगंबर मान्य परिकर्म के प्रथम तीन भेद श्वेतांबर मान्य उपांगों के अंतर्गत हैं। द्वीपसागरप्रज्ञप्ति का भी नंदी में आवश्यकव्यतिरिक्त के कालिकश्रुत के भेद के अंतर्गत उल्लेख हुआ है।[43] दिगंबर परंपरा में पांचवें अंग का नाम भी व्याख्याप्रज्ञप्ति है और परिकर्म के पांचवें भेद का नाम भी व्याख्याप्रज्ञप्ति है। श्वेतांबर परंपरा में पांचवां अंग तो व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम से विश्रुत है ही, किंतु इसके अतिरिक्त इस नाम वाले अन्य ग्रंथ का श्वेतांबरीय आगम साहित्य में उल्लेख प्राप्त नहीं है।

दिगंबर परंपरा के अनुसार बारहवें अंग दृष्टिवाद के कुछ अंशों को छोड़कर अवशिष्ट सारे ही अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य आगमों का उच्छेद हो गया है। दृष्टिवाद के कुछ अंश षट्खंडागम एवं कषायप्राभृत के रूप में सुरक्षित हैं।

दिगंबर परंपरा ने मूल आगमों का उच्छेद मानकर भी कुछ ग्रंथों को आगम जितना ही महत्त्व दिया है और उन्हें जैन वेद की संज्ञा देकर चार अनुयोगों में विभक्त किया है। उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

1. **प्रथमानुयोग**—पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, आदिपुराण, उत्तरपुराण।

2. **करणानुयोग**—सूर्यप्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति, जयधवला।

3. **द्रव्यानुयोग**—प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, आप्तमीमांसा आदि।

4. **चरणानुयोग**—मूलाचार, त्रिवर्णाचार, रत्नकरंडश्रावकाचार।[44]

दिगंबर परंपरा में षट्खंडागम एवं कषायप्राभृत—ये दो ग्रंथ आगम रूप में मान्य हैं। षट्खंडागम में तो आगम शब्द भी प्रयुक्त है। ये दोनों ग्रंथ दृष्टिवाद के अंशभूत हैं—ऐसी दिगंबर मान्यता है। इन ग्रंथों का संक्षेप में यहां वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

षट्खंडागम

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् श्रुतज्ञान का क्रमशः ह्रास होते-होते भगवान के निर्वाण के 683 वर्ष बाद कोई भी अंगधर एवं पूर्वधर आचार्य नहीं रहे—यह दिगंबर परंपरा की मान्यता है। आगमविच्छेद क्रम के अंत में सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य—ये चारों ही आचार्य संपूर्ण आचारांग के धारक और शेष अंगों एवं पूर्वों के एकदेश के धारक थे। इसी क्रम में सभी अंगों एवं पूर्वों का एक देश आचार्य-परंपरा से आता हुआ धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ।[45] सौराष्ट्र देश के गिरिनगर की चंद्रगुफा में स्थित अष्टांग महानिमित्त के पारगामी आचार्य धरसेन ने सोचा—मेरे बाद श्रुत का सर्वथा लोप ही न हो जाए, अतः दक्षिणापथ के आचार्यों को पत्र लिखा। वहां से भूतबलि एवं पुष्पदंत—ये दो साधु अध्ययन के लिए आए, आचार्य ने उनको श्रुत का अध्ययन करवाया। इन्हीं दो मुनियों ने उस श्रुत के आधार पर षट्खंडागम की रचना की।[46]

पुष्पदंत एवं भूतबलि ने जिस ग्रंथ का निर्माण किया, उन्होंने उसका क्या नाम रखा—यह उनके द्वारा रचित सूत्रों से ज्ञात नहीं होता, किंतु धवलाकार ने उसको षट्-खंड-सिद्धांत के रूप में वर्णित किया है[47] तथा उन्होंने सिद्धांत और आगम को पर्यायवाची भी माना है।[48] गोम्मटसार के कर्ता ने इसे परमागम एवं श्रुतावतार के कर्ता इंद्रनंदि ने इसे षट्खंडागम कहा है।[49] यह ग्रंथ वर्तमान में 'षट्खंडागम' नाम से ही प्रसिद्ध है।

पुष्पदंत और भूतबलि ने षट्खंडागम की रचना की। पुष्पदंत ने 177 सूत्रों में सत्प्ररूपणा और भूतबलि ने 6000 सूत्रों में शेष ग्रंथ लिखा। दूसरे अग्रायणी पूर्व के महाकर्मप्रकृति नामक चतुर्थ पाहुड अधिकार के आधार पर षट्खंडागम के बहुभाग का उद्धार किया गया।[50]

षट्खंडागम के छह खंड हैं, जैसा कि इसके नाम से ही विदित है। पहले खंड का नाम जीवट्ठाण है। इसमें सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव और अल्पबहुत्व—ये आठ अनुयोगद्वार और प्रकृति-समुत्कीर्तना, स्थान-समुत्कीर्तना आदि नौ चूलिकाएं हैं। इनमें गुणस्थान और मार्गणाओं का वर्णन है। इस खंड का परिमाण धवलाकार ने अठारह हजार पद कहा है।[51]

दूसरे खंड का नाम खुद्दाबंध (क्षुल्लकबंध) है। इसमें स्वामित्व, काल, अंतर आदि ग्यारह अर्थाधिकार हैं। इसे खंड में कर्मबंध करने वाले जीव का कर्मबंध के भेदों सहित ग्यारह प्ररूपणाओं के द्वारा विवेचन किया गया है।

तीसरे खंड का नाम बंधस्वामित्व विचय है। कर्म की प्राकृतियों का किसके बंध होता है? कितने गुणस्थान तक होता है? इत्यादि कर्म-संबंधी विमर्श इसमें किया गया है।

चौथे खंड का नाम वेदना है। इस खंड में कृति और वेदना—ये दो अनुयोगद्वार हैं। इसमें वेदना के कथन की प्रधानता एवं उसका अधिक विस्तार से वर्णन होने के कारण इस खंड का नाम 'वेदना खंड' ही रखा गया है।

पांचवां खंड वर्गणा नाम से अभिहित है। इस खंड का प्रधान वर्णनीय विषय बंधनीय है, जिसमें तेईसं प्रकार की वर्गणाओं का वर्णन और कर्मबंध के योग्य वर्गणाओं का विस्तार से वर्णन है।

छठे खंड का नाम महाबंध है। इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेशबंध का विस्तार से वर्णन है। भूतबलि ने पांच खंडों के पुष्पदंत विरचित सूत्रों सहित छह हजार सूत्र रचने के पश्चात् महाबंध नाम के छठे खंड की तीस हजार श्लोकप्रमाण रचना की।[52] इस छठे खंड को 'महाधवल' के नाम से भी जाना जाता है।

वीरसेनाचार्य ने इन छह खंडों पर 72 हजार श्लोकप्रमाण धवला टीका की रचना की। नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने षट्खंडागम के आधार पर गोम्मटसार लिखा। जिसके जीवकांड और कर्मकांड—ये दो विभाग हैं।

कषाय-प्राभृत

प्रस्तुत ग्रंथ की उत्पत्ति पांचवें ज्ञानप्रवादपूर्व की दसवीं वस्तु के तीसरे पेज्जदोसपाहुड से हुई है।[53] पेज्ज नाम प्रेयस् या राग का है और दोष नाम द्वेष का है। इस ग्रंथ में क्रोध आदि चार कषायों और हास्य आदि नौ कषायों का विभाजन राग और द्वेष के रूप में किया गया है, अतः प्रस्तुत ग्रंथ का मूल नाम पेज्जदोसपाहुड है और उत्तरनाम कसायपाहुड है।[54] कषायों की विभिन्न अवस्थाओं के वर्णन करने वाले पदों से युक्त होने के कारण प्रस्तुत ग्रंथ का नाम 'कसायपाहुड' रखा गया है, जिसका संस्कृत रूपांतर कषायप्राभृत है। 'कषायप्राभृत' प्राकृत भाषा गाथा सूत्रों में निबद्ध है।

कषायप्राभृत की जयधवला टीका में तीसरे पेज्जपाहुड का परिमाण सोलह हजार पदप्रमाण बतलाया है। उस विशाल प्राभृत को आचार्य गुणधर ने मात्र एक सौ अस्सी गाथाओं में उपसंहृत किया है।

कसायपाहुड में कुल 233 गाथाएं हैं। 180 गाथाओं के अतिरिक्त 53 गाथाएं और हैं। इनको 180 में जोड़ने से 233 गाथाएं हो जाती हैं। वीरसेन ने इन समस्त गाथाओं का कर्ता गुणधराचार्य को ही माना है। यद्यपि गुणधराचार्य स्वयं ने ग्रंथ के प्रारंभ में 180 गाथाओं का निर्देश किया है।

कसायपाहुड करणानुयोग के अंतर्गत है। इसमें मुख्य चर्चा कर्म से संबंधित ही है। आचार्य गुणधर ने इस ग्रंथ में मोहनीय कर्म के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश सत्त्व के उल्लेख के साथ ही बंध-सत्ता, उदीरणा का निर्देश मात्र करके संक्रमण का कुछ विस्तार से वर्णन किया है।

जैन आगमों का आधुनिक संपादन, अनुवाद एवं भाष्य

भारतीय परंपरा में प्रथम तो शास्त्रों को कंठस्थ करने की प्रथा रही है, दूसरे मुद्रणकला के आविष्कार के अनंतर भी ग्रंथों को हस्तलिखित रूप में ही प्रयुक्त करने की प्रथा चालू रही। इस कारण जैनागम भी अधिक लोगों तक नहीं पहुंच पा रहे थे। सर्वप्रथम 1880 में राय धनपतिसिंह बहादुर ने जैनागमों का प्रकाशन तो कर दिया, किंतु यह संस्करण वैज्ञानिक पद्धति से संपादित नहीं था।

राय धनपतिसिंह बहादुर के इस प्रकाशन से जैनागम सर्वसुलभ हो गए। पश्चिमी विद्वानों का ध्यान जब इस ओर गया तो उन्होंने जिस वैज्ञानिक पद्धति से लैटिन, ग्रीक आदि के प्राचीन ग्रंथों का संपादन किया था, उसी पद्धति का उपयोग करते हुए कतिपय जैनागमों का भी संपादन किया।

पाश्चात्य विद्वान

जेकोबी : पश्चिमी विद्वानों में सर्वप्रथम जेकोबी (Jacobi) ने सन् 1879 में कल्पसूत्र का एक आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित किया। जेकोबी की कल्पसूत्र की भूमिका ने भविष्य के अनुसंधानों को आधारभूमि प्रदान की। श्री जेकोबी ने आचारांग, सूत्रकृतांग, कल्पसूत्र एवं उत्तराध्ययन का अनुवाद भी किया, जिनका प्रकाशन 'Sacred Books of East' नामक सिरीज में हुआ। ये ग्रंथ जर्मन भाषा में निबद्ध किए गए हैं। उनमें से कुछ के अंग्रेजी संस्करण भी उपलब्ध हैं। श्री जेकोबी ने आगमों के अतिरिक्त भी जैन साहित्य पर विपुल मात्रा में कार्य किया है। जेकोबी ने ही सर्वप्रथम यह सिद्ध किया कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से भी प्राचीन है। पश्चिम में जैन विद्या पर कार्य करने वालों में जेकोबी का नाम अग्रणी व्यक्तियों में है। इनके कार्यों द्वारा पाश्चात्य-जगत में जैन धर्म-दर्शन को एक विशिष्ट पहचान प्राप्त हुई है।

ई. ल्यूमन : ई. ल्यूमन (E. Leumann 1859-1931) का भी जैन विद्या के क्षेत्र में बहुमूल्य योगदान रहा है। इन्होंने जैन आगमों पर कार्य किया तथा अपनी पीएच. डी. की उपाधि 'औपपातिकसूत्र' पर शोधकार्य करके प्राप्त की। ल्यूमन ने दशवैकालिक एवं उसकी निर्युक्ति का संपादन 1892 में किया।

शुब्रींग : श्री शुब्रींग ने अनेक जैन ग्रंथों का संपादन किया है। इनके द्वारा संपादित Acarangsutra, erster srutaskandha (आचारांग एवं सूत्रकृतांग) का प्रकाशन सन् 1918 में Leipzig से Text, Analyse and glossar Abhandlungln yuer die kunde des morgen landes नामक सिरीज में हुआ। 1918 में ही इन्होंने इसी सिरीज से 'व्यवहार और निशीथ' का प्रकाशन किया। इसके पश्चात् Studien zum Mahanisihasutta (महानिशीथ) नाम से दो ग्रंथ क्रमशः 1951 और 1963 में प्रकाशित हुए। शुब्रींग द्वारा संपादित कुछ ग्रंथों की हिंदी प्रतिलिपियों का प्रकाशन 'जैन साहित्य संस्थान समिति' पूना से हुआ है।

शुब्रींग ने दशवैकालिक सूत्र का भी अनुवाद किया था जो 1932 में अहमदाबाद से प्रकाशित-हुआ। इस ग्रंथ का संपादन शुब्रींग के गुरु E. Leumann ने किया था।

शुब्रींग के स्वर्गवास के पश्चात् उनके द्वारा संपादित दो ग्रंथ एवं एक अनुवादित ग्रंथ 1969 में प्रकाशित हुए। एक ग्रंथ 'गणिविज्जा' Indo Iranian Journal XI-2 में प्रकाशित हुआ, जो शकुन विद्या से संबंधित था। दूसरा 'तंदुलवेयालिय' नामक ग्रंथ था, जो Paramedical से संबंधित था। एक अन्य कार्य जो Isibhasiyaim, Ausspruече der Weisen, Aus dem prakrit der Jaina Uebersetzt (Isibhasiyaim, Translated from the prakrit of the Jains) नाम से प्रकाश में आया, जो 'इसिभासियं' का अनुवाद था।

शार्पेंटियर : शार्पेंटियर (Jarl Charpentier) ने 'उत्तराध्ययन' सूत्र के मूल पाठ का संशोधन किया है तथा उसके पाठांतर भी दिए हैं। इस ग्रंथ में उन्होंने प्रस्तावना (Introduction) में जैन आगमों के संक्षिप्त परिचय के साथ ही सामान्य रूप से उनकी विषयवस्तु का वर्णन भी किया। जैन हस्तलिखित प्रतियों का, विशेषतः उत्तराध्ययन से संबंधित प्रतियों के बारे में विशेष जानकारी दी है। उसका क्वचित भाषाशास्त्रीय आयाम भी लेखक ने प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ में लेखक ने आवश्यक आलोचनात्मक टिप्पण भी दिए हैं तथा उत्तराध्ययन की एक टीका भी इसके साथ छपी है। इस ग्रंथ का प्रथम भारतीय संस्करण 1980 में Ajay Book Service नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ है।

अल्सडोर्फ : अल्सडोर्फ (Ludwig Alsdorf 1904-1978) जैन विद्या के विशेषज्ञ थे। इन्होंने जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति के आधार पर जैन-सृष्टि (Cosmography) का वर्णन किया है। उत्तराध्ययन के नमिप्रव्रज्या आदि कुछ अध्ययनों पर भी इन्होंने शोधकार्य किया है। निक्षेप पर इनका महत्त्वपूर्ण कार्य है। लुप्त दृष्टिवाद की विषयवस्तु के बारे में भी इन्होंने विमर्श किया है। जैन आगमों के अतिरिक्त अन्य जैन साहित्य पर इन्होंने विपुल मात्रा में कार्य किया है। जिसकी अवगति L. Alsdorf, Kleine Schriften पुस्तक से प्राप्त की जा सकती है।

डेल्यू : जोजेफ डेल्यू (Jozef Deleu) ने भगवतीसूत्र पर कार्य किया है जिसका प्रकाशन सन् 1970 में 'De Tempelhof 37, Brugge (Belgie) से हुआ है। पश्चिमी जगत में भगवती पर सबसे पहले कार्य वेबर ने किया था। उनके पश्चात् शुब्रींग ने भगवती पर कुछ कार्य किया था, किंतु स्वतंत्र रूप से भगवती पर वेबर के पश्चात् जोजेफ डेल्यू ने ही कार्य किया है। विद्वान लेखक ने इस पुस्तक में भगवती के कई महत्त्वपूर्ण अंशों पर समालोचनात्मक विमर्श किया है। भगवती की रचना के संबंध में उन्होंने विस्तार से विचार किया है जैसा कि प्राक्कथन में उन्होंने स्वयं लिखा है कि 'The present work intends to give a fairly complete analysis of the viyahpannatti; moreover, in the introduction I have tried to answer at least some of the rather complicated questions regarding its composition.'

विद्वान लेखक ने ग्रंथ के अंत में कई परिशिष्ट दिए हैं जिससे ग्रंथ का मूल्य और अधिक बढ़ गया है।

जर्मन विद्वानों से संबंधित तथ्यों के लिए 'जर्मन इंडोलोजिस्ट्स' (German Indologists) पुस्तक हमारा मुख्य आधार रही है।

प्राकृत भाषा में निबद्ध आगम साहित्य, जैन साहित्य का प्राचीनतम भाग है। संपूर्ण जैन धर्म/दर्शन के मूल स्रोत जैन आगम ही हैं। प्राचीनकाल से ही आगमों की व्याख्या के लिए निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, टब्बा आदि ग्रंथों का प्रणयन होता रहा है। प्राचीन जैनाचार्यों ने आगमों की व्याख्या में अपने मतिबल का प्रचुर नियोजन किया है। आधुनिक युग में भी भारतीय विद्वानों द्वारा आगमों पर कार्य हो रहे हैं।

भारतीय विद्वान

सन् 1915 में मेहसाना की आगमोदय समिति ने प्रायः सभी आगमों का प्रकाशन किया। सन् 1920 में हैदराबाद में ऋषि अमोलक ने जैन सूत्र बत्तीसी प्रकाशित की। यद्यपि उसका संपादन आलोचनात्मक नहीं था।

स्व. मुनिश्री पुण्यविजयजी एवं मुनि जंबूविजयजी ने जैन आगमों के संपादन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आगम

प्रकाशन की शृंखला के प्रथम खंड में नंदी तथा अनुयोगद्वार तथा द्वितीय खंड में आचारांग विस्तृत पाठ-भेदात्मक टिप्पणियों सहित तथा अन्य आगम भी श्री महावीर जैन विद्यालय (मुंबई) से प्रकाशित हो चुके हैं।

आचार्यश्री जवाहरलालजी महाराज, आचार्यश्री आत्मारामजी, मुनिश्री घासीलालजी, मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल' तथा युवाचार्यश्री मधुकर मुनि ने भी आगम साहित्य पर कार्य किया है।

सन् 1955 में आचार्यश्री तुलसी के वाचना प्रमुखत्व में जैन आगमों के संपादन की बृहत् कार्ययोजना प्रारंभ हुई। उसमें जैन आगमों के पाठ-संशोधन एवं विस्तृत आलोचनात्मक एवं अनुसंधानात्मक टिप्पणों के साथ अनुवाद कार्य चल रहा है। यह योजना वर्तमान में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के दिशा-निर्देशन में अबाधगति से सतत गतिशील है। इस वाचना में अनेक आगमों का कार्य संपन्न हो चुका है जिसकी अवगति निम्नांकित तालिका से प्राप्त की जा सकती है—

मूलपाठ संशोधन बत्तीस ही आगमों का हो चुका है।

1. अंगसुत्ताणि, भाग 1, 2. अंगसुत्ताणि, भाग 2, 3. अंगसुत्ताणि, भाग 3, 4. उवंगसुत्ताणि, भाग 4, 5. नवसुत्ताणि, भाग 5।

संस्कृत छाया सहित हिंदी अनुवाद एवं विस्तृत टिप्पण—

1. आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध, 2. सूत्रकृतांग प्रथम एवं द्वितीय श्रुतस्कंध, 3. स्थानांग, 4. समवायांग, 5. भगवती। (1 से 3 शतक (खंड-1) तथा 4 से 7 शतक भगवई (खंड-2) भगवती का कार्य वर्तमान में चालू है।) 6. उत्तराध्ययन, 7. दशवैकालिक, 8. अनुयोगद्वार, 9. नंदीसूत्र, 10. ज्ञाताधर्मकथा मुद्रण में है, 11. प्रश्न-व्याकरण के अनुवाद एवं टिप्पण का कार्य चल रहा है, 12. आचारांग एवं आचारांग भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है, 13. भगवई के प्रथम सात शतक का अंग्रेजी अनुवाद मुद्रण में है।

कोश-निर्माण

1. आगम शब्दकोश, 2. देशी कोश, 3. एकार्थक कोश, 4. निरुक्त कोश, 5. श्रीभिक्षुआगम विषयकोश—भाग 1, 6. वनस्पतिकोश, 7. निर्युक्तिपंचक, 8. आवश्यक निर्युक्ति (प्रथम भाग), 9. श्रीभिक्षुआगम विषयकोश के भाग 2 का कार्य चालू है, 10. जैन पारिभाषिक शब्दकोश का कार्य भी चालू है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के गंभीर अध्ययन, चिंतन एवं अन्वेषण शैली ने आगम-विश्लेषण के क्षेत्र में एक नवीन कीर्तिमान स्थापित किया है। अनुसंधान के क्षेत्र में उपर्युक्त आगम साहित्य का प्रचुर उपयोग हो रहा है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जैन परंपरा के सामने बौद्ध परंपरा की तरह ही आर्षवाणी को सुरक्षित रखने का प्रश्न उपस्थित हुआ था। जिस प्रकार बौद्धों ने इसके लिए संगीति आयोजित की, उसी प्रकार जैनों ने भी वाचनाएं आयोजित कीं, किंतु इसके बावजूद भी भगवान महावीर की वाणी का बहुत बड़ा अंश लुप्त हो गया। बहुत समय तक तो जैन परंपरा ने लिखने का ही निषेध किया। किंतु बाद में यह देखकर कि स्मृति के द्वारा इतने विपुलकाय साहित्य को सुरक्षित रखना संभव नहीं है, अतः लिखने की अनुमति दे दी गई।

आगमों को सूत्र कहा जाता है। सूत्र सदा व्याख्या-सापेक्ष होते हैं। इसलिए जैन आचार्यों ने प्राचीनकाल से ही आगमों की विस्तृत व्याख्या निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि तथा टीका के रूप में की। वस्तुस्थिति यह है कि प्राचीन परंपरा को जानने के लिए और आगमों के दुर्बोध अंश को समझने के लिए व्याख्या साहित्य ही हमारा एकमात्र अवलंबन है। आगम के इस व्याख्या साहित्य में आचार्य तुलसी और आचार्य महाप्रज्ञ की संयुक्त देखरेख में जो व्याख्या साहित्य निर्मित हुआ, वह अधुनातन तो है ही, उसमें प्राचीन व्याख्या साहित्य का नवनीत भी समाहित है। आगमों की ठीक समझ के लिए यह व्याख्या साहित्य ही हमारा मुख्य आधार बना है।

लुप्त होने से जो साहित्य बच गया, वह भी अपने शुद्ध रूप में हम तक नहीं आ सका। इसलिए मुद्रणकला के आने के बाद जब आगमों को संपादित रूप में प्रकाशित करने की समस्या आई, तब शुद्ध पाठ-निर्धारण की समस्या अत्यंत विकट सिद्ध हुई। भारतीय जलवायु में कोई भी पांडुलिपि अधिक-से-अधिक एक हजार वर्ष तक ही सुरक्षित रह सकती है, अतः बहुत प्राचीन पांडुलिपि मिलने का प्रश्न नहीं था। जो पांडुलिपियां हमें प्राप्त हुईं, वे प्राचीनतम पांडुलिपि की कौन-सी आवृत्ति हैं—यह कहना कठिन है, किंतु इतना निश्चित है कि जैसा पाठ-निर्धारण अंतिम वाचना में हुआ था, वैसा पाठ अविकल रूप में हमें प्राप्त नहीं है।

मूल शुद्ध पाठ तक पहुंचने की पद्धति का विकास मूलतः पश्चिम के विद्वानों द्वारा किया गया। उस पद्धति के

द्वारा उन्होंने अनेक आगमों का संपादन किया। तत्पश्चात् भारतीय विद्वानों ने भी मूल आगम और उसके व्याख्या साहित्य के संपादन में अपना पर्याप्त श्रम लगाया। इस सारे परिश्रम का ही फल है कि शोधार्थियों को आज आगम और आगम का व्याख्या साहित्य बहुत-कुछ शुद्ध रूप में मिल जाता है। ❖

संदर्भ ग्रंथ

1. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (संपा. पं. खूबचंद्र, अगास, 1932) 1/20 : तस्य च महाविषयत्वात्तांस्तानर्थानधिकृत्य प्रकरणसमाप्त्यपेक्षमंगोपांगनानात्वम्।
2. सुखबोधा सामाचारी, पृ. 34
3. नंदी, सूत्र 77
4. (क) रायपसेणियवृत्ति, पृ. 1 : अथ कस्माद् इदमुपांगं राजप्रश्नीयाभिधानमिति? उच्यते, इह प्रदेशिनामा राजा भगवतः केशिकुमारश्रमणस्य समीपे यान् जीवविषयान् प्रश्नानकार्षीत्, यानि च तस्मै केशिकुमारश्रमणो गणभृत् व्याकरणानि व्याकृतवान्।

   (ख) रायपसेणियवृत्ति, पृ. 2 : राजप्रश्नेषु भवं राजप्रश्नीयम्।
5. उवंगसुत्ताणि (खंड-4) (जीवाजीवाभिगमे) (संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ, लाडनूं, 1987), 1/1
6. उवंगसुत्ताणि 4 (खंड-2) (निरयावलीयाओ), 1/4, 5
7. Winternitz, Maurice, History of Indian Literature P. 440 : Upangas 8-12 are sometimes also comprised as five sections of one text entitle Nirayavali-Suttam. Probably, they originally formed one text, the five sections of which were then counted as five different texts, in order to bring the number of Upanga up to twelve.
8. उत्तरज्झयणाणि (संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ, लाडनूं, 1993), भूमिका, पृ. 15
9. जैन, सागरमल, सागर जैन विद्या भारती, भाग 2 (वाराणसी, 1995), पृ. 9
10. नंदी, सूत्र 79, चोद्दस पइण्णगसहस्साणि भगवओ वद्धमाणसामिस्स।
11. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 92, अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ।
12. बृहत्कल्पभाष्य (संपा. मुनि पुण्यविजय, भावनगर, 1933), गाथा 144

    गणहर-थेरकयं वा आदेसा मुक्कवागरणतो वा।
    धुव-चलविसेसतो वा, अंगा-णंगेसु णाणत्तं।।
13. (क) बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति, गाथा 144 : यद् गणधरैः कृतं तदङ्गप्रविष्टम्। यत्पुनर्गणधरकृतादेव स्थविरैर्निर्युढम्... अनङ्गप्रविष्टम्।

    (ख) नंदीचूर्णि, पृ. 57 : गणहरकतमंगगतं जं कत थेरेहिं बाहिरं तं च।
14. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 89-90
15. (क) ओघनिर्युक्ति (A History of the canonical literature of the Jains, P. 14 पर उद्धृत) वृत्ति, पृष्ठ 3.a अर्थतस्तीर्थकरप्रणीतं सूत्रतो गणधरनिबद्धं चतुर्दशपूर्वधरोपनिबद्धं दशपूर्वधरोपनिबद्धं प्रत्येकबुद्धोपनिबद्धं च।

    (ख) मूलाचार, 5/277
    सुत्तं गणहरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
    सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुव्वकथिदं च।।
16. (क) नंदी, सूत्र 66, इच्चेयं दुवालसंगं गणिपिडगं चोद्दससपुव्विस्स सम्मसुयं, अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुयं, तेण परं भिण्णेसु भयणा।

    (ख) बृहत्कल्पभाष्य, गाथा 132, चोद्दस दस य अभिन्ने नियमा सम्मं तु सेसए भयणा।
17. प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध (ले. जयाचार्य, लाडनूं 1988), 19/12, 20/9

    संपूरण दस पूर्वधर, चउदश पूरवधार।
    तास रचित आगम हुवै, वारू न्याय विचार।।
    दश, चउदशपूरवधरा, आगम रचै उदार।
    ते पिण जिन नीं साख थी, विमल न्याय सुविचार।।
18. आचारांगभाष्य, भूमिका, पृ. 15
19. विशेषावश्यकभाष्य II (ले. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, अहमदाबाद, वी. सं. 2489), गाथा 2286, 2288

    अपहुत्ते अणुओगो चत्तारि दुवार भासई एगो।
    पहुत्ताणुओगकरणे ते अत्था तओ उ वोच्छिन्ना।।
    देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खियअज्जेहिं।
    जुममासज्ज वियत्तो अणुओगो तो कहो चउहा।।
20. विशेषावश्यकभाष्य II, गाथा 2284-2295
21. समवाओ, 34/22, भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ।
22. अंगसुत्ताणि-2 (भगवई), भगवती, 5/93, देवा णं अद्धमागहाए भासाए भासंति।
23. उवंगसुत्ताणि (खण्ड-4) (पण्णवणा), 1/93 : भासारिया जे णं अद्धमागहाए भासाए भासंति।
24. निशीथसूत्रम्, गाथा 3618 : मगहाऽद्धविसयभासाणिबद्धं अहवा अट्ठारसदेसीभासाणियतं अद्धमागधं।
25. प्राकृतव्याकरण 'हेम' (ले. आचार्य हेमचंद्र, दिल्ली, 1974), 8/1/83
26. ठाणं, 7/48/10

    सक्कता पागता चेव, दुहा भणितीओ आहिया।
    सरमण्डलम्मि गिज्जंते, पसत्था इसिभासिता।।
27. षट्प्राभृतदिसंग्रहः (संपा. पं. पन्नालाल सोनी, मुंबई, वि.सं. 1977), पृ. 99, सर्वार्धं मागधीया भासा भवति कोर्थः? अर्धं भगवद्भाषाया मगधदेशभाषात्मकं, अर्धं च सर्वभाषात्मकम्।

28. बृहत्कल्पभाष्य, 6, प्रस्तावना, पृ. 57

29. नंदिसुत्तं, अणुओगद्दाराइं (संपा. मुनि पुण्यविजय, मुंबई, 1968) प्रस्तावना, पृ. 13, 14

30. प्राकृतव्याकरण, 8/1/3 : आर्षे हि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते।

31. समवाओ, 34/23 : सावि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि-सिरी-सिवाणं अप्पणो हिय-सिव-सुहदाभासत्ताए परिणमइ।

32. जैन, जगदीशचंद्र, प्राकृतसाहित्य का इतिहास (वाराणसी, 1985), पृ. 53

33. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 88 : णिज्जुत्ता ते अत्था जं बद्धा तेण होई णिज्जुत्ती।

34. पिंडनिर्युक्ति वृत्ति पत्र 1 : निर्युक्तयो न स्वतंत्रशास्त्ररूपाः किंतु तत्तत्सूत्रपरतंत्राः।

35. मालवणिया, दलसुख, आगम युग का जैन दर्शन, पृ. 33

36. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा 84-85

37. तत्त्वार्थवार्तिक, 1/20/22

38. समवाओ, पइण्णगसमवाओ, 101

39. वही, 110

40. वही, 127

41. वही, 123

42. वही, 130

43. नंदी, सूत्र 78

44. Winternitz, Manrice, History of Indian Literature, P. 455

45. षट्खंडागम (जीवस्थान-सत्प्ररूपणा, खंड-1, पुस्तक-1, भाग-1), पृ. 67-68 तदो सुभद्दो जसभद्दो जसबाहु लोहज्जो त्ति एदे चत्तारि वि आइरिया आयारंगधरा सेसंग-पुव्वाणमेग-देसधरा य। तदो सव्वेसिमंग-पुव्वाणमेग-देसो आइरिय-परम्पराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो।

46. वही, पृष्ठ 72 : तदो एयं खंड-सिद्धंतं पडुच्च भूदबलि-पुप्फयंताइरिया वि कत्तारो उच्चंति।

47. वही, पृ. 75 : इदं पुण खंड-सिद्धंतं पडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए ट्ठिदं छण्हं खंडाणं।

48. वही, पृ. 21 : आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो।

49. वही, जीवस्थान सत्प्ररूपणा I, प्रस्तावना, पृ. 56

50. षट्खंडागम, जीवस्थान सत्प्ररूपणा I, पृ. 72 : महाकम्म-पयडि-पाहुडस्स वोच्छेदो होहिदि त्ति समुप्पण-बुद्धिणा पुणो दव्वपमाणाणुगममादिं काउण गंथरचणा कदा।

51. वही, जीवस्थान सत्प्ररूपणा I, पृ. 61 : पदं पडुच्च अट्ठारह-पदसहस्सं।

52. षट्खंडागम, प्रस्तावना, पृ. 59 में उद्धृत, इंद्रश्रुतावतार,... षट्सहस्रग्रंथान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि, प्रविरच्य महाबंधाह्वयं ततः षष्ठकं खण्डम्। त्रिंशत् सहस्रसूत्रग्रंथं व्यरचयदसौ महात्मा।

53. कसायपाहुडसुत्त, गाथा 1,
पुव्वम्मि पंचमम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिसं।
पेज्जं त्ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम।।

54. कसायपाहुड (प्रथमोऽधिकारः पेज्जदोसबिहत्ती) (संपा. पं. फूलचंद्र, पं. महेंद्रकुमार, पं. कैलाशचंद्र, मथुरा, 1974), पृ. 9, तं तदियपाहुडं किण्णाममिदिवुत्ते 'पेज्जपाहुडं' त्ति तण्णामं भणिदं तत्थ एदं कसायपाहुडं होदि। ❖❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन *भारती* एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन *भारती* पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

अनुभूति

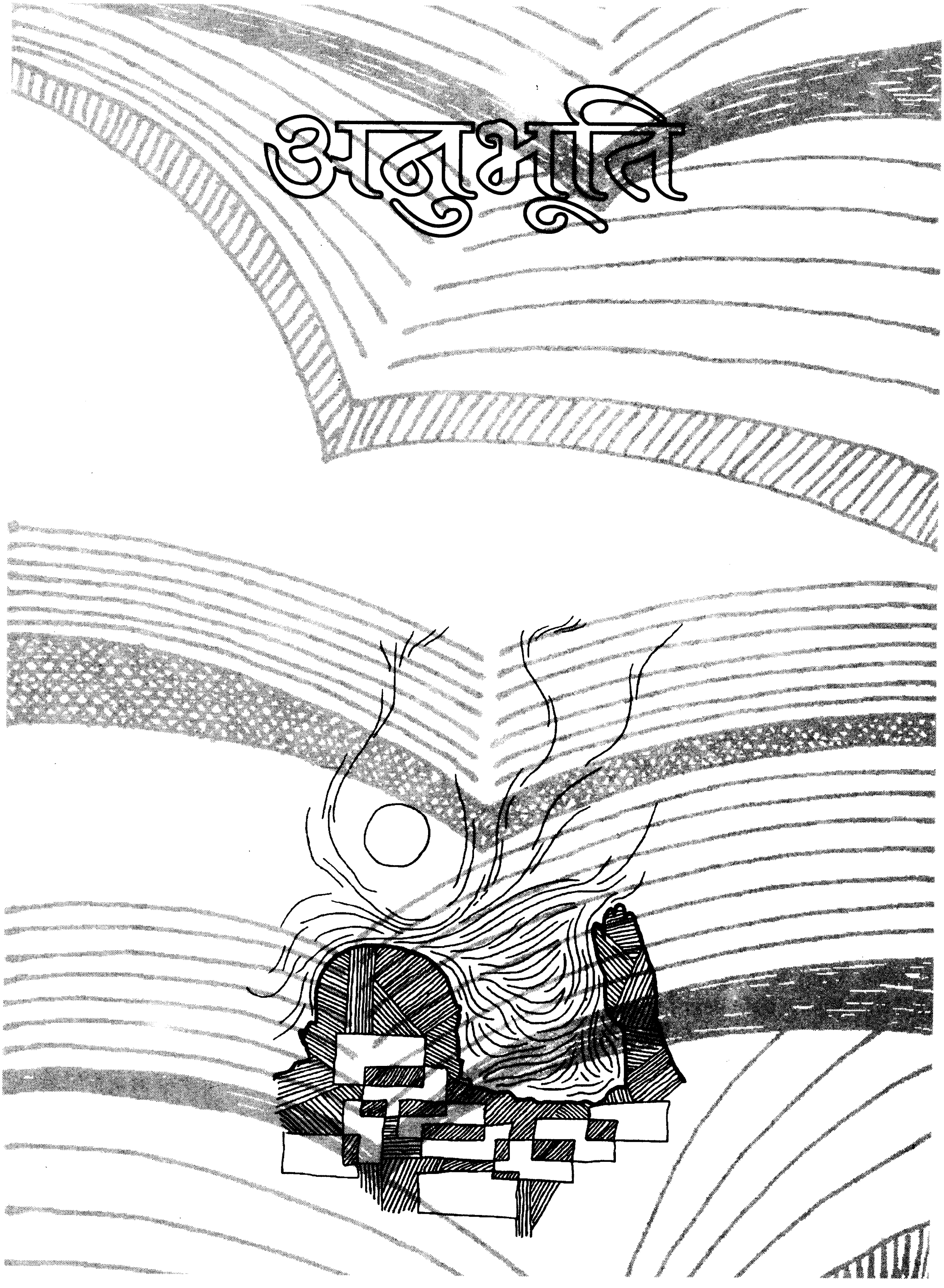

भारतीय संस्कृति मानव-मन को पहचानती है। वह मनुष्य के हृदय की भूख पहचानती है। भारतीय संस्कृति इस बात को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करती कि मनुष्य में वासना-विकार है। यद्यपि भारतीय संस्कृति का ध्येय परमोच्च है, तथापि वह मर्यादा को पहचानती है। भारतीय संस्कृति इस बात को भी नहीं भूलती है कि मानवी आत्मा इस मिट्टी के शरीर में बंद हो गई है, यह आत्म-हंस इस कीचड़ में फंस गया है। उसे इस कीचड़ से धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए।

सारी मानव-संस्कृति कीचड़ में से ही निकलती है। कीचड़ में कीड़े होते हैं, लेकिन कीचड़ में कमल भी खिलते हैं। कीचड़ में कमल खिलाना ही भारतीय संस्कृति का ध्येय है। अंधकार में प्रकाश का निर्माण करना, मिट्टी से हीरे और माणिक निर्माण करना, मृत्यु से अमरता प्राप्त करना ही भारतीय संस्कृति का ध्येय है।

—पांडुरंग सदाशिव साने

क्या अनुशासन की यह प्रक्रिया सामाजिक बन सकती है? वैयक्तिक प्रक्रिया से कुछेक व्यक्ति लाभान्वित हो सकते हैं; पूरे समाज का रूपांतरण नहीं हो सकता। आज ऐसी प्रक्रिया की खोज अपेक्षित है, जो पूरे समाज में अनुशासन को प्रतिष्ठित कर सके। अनुशासन एक मानसिक प्रशिक्षण है। मन को प्रशिक्षण दिए बिना ही हम उसे अनुशासित रखना चाहते हैं। यह कैसे संभव हो? अनुशासन के विकास का प्रयत्न असंभव को संभव बनाने का प्रयत्न नहीं है। हम संभव को असंभव माने हुए हैं। प्रश्न इस मान्यता को तोड़ने का है। इस मान्यता का टूटना व्यक्ति और समाज—दोनों के लिए श्रेयस्कर है।

अनुशासन : एक मानसिक प्रशिक्षण

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

चित्त एकाग्र नहीं होने की समस्या किसी एक व्यक्ति की नहीं, हजारों व्यक्तियों की है और मन एकाग्र क्यों नहीं होता, यह प्रश्न किसी एक के द्वारा नहीं, हजारों लोगों द्वारा पूछा जाता है। यह समस्या समाधान से परे नहीं है, यह प्रश्न अनुत्तरित भी नहीं है। इस समस्या का समाधान है—अप्रतिबद्धता। जीवन के हर क्षेत्र में मनुष्य प्रतिबद्ध है। परिवार या सामाजिक वातावरण—बाहरी प्रतिबद्धता है। विचार और संस्कार, आंतरिक प्रतिबद्धता है। प्रतिबद्ध व्यक्ति अकेला नहीं हो सकता और जो अकेला नहीं होता, वह एकाग्रचित्त भी नहीं हो सकता। इस तरह कहा जा सकता है कि समस्या एकाग्रता की नहीं है, समस्या है प्रतिबद्धता की। बड़ी विचित्र बात है कि मनुष्य प्रतिबद्धता को छोड़ना नहीं चाहता और एकाग्रता को चाहता है। इस विसंगति का कोई समाधान नहीं हो सकता। क्या सामाजिक जीवन में अप्रतिबद्ध होकर जीना संभव है? सहज ही यह पूछा जा सकता है। कोई भी सामाजिक प्राणी अकेला होकर जी नहीं सकता। इसलिए शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रतिबद्ध होना आवश्यक है।

चेतना के स्तर पर मनुष्य अप्रतिबद्ध हो सकता है। चित्त की एकाग्रता का आधारबिंदु भी यही है। यही है समर्पण। यही है अनुशासन।

सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में नियंत्रण में ही अनुशासन खोजा जाता है। ऐसा प्रयत्न तानाशाह को जन्म देता है। उससे जनता और अधिक संताप भोगती है। जैसे-जैसे नियंत्रण की पकड़ मजबूत होती है, वह परतंत्र बनती जाती है।

अध्यात्म के क्षेत्र में व्यक्ति की आंतरिक चेतना को बदलना ही अनुशासन का आधार है। उसके बिना कोई भी परिवर्तन सफल नहीं हो सकता। आध्यात्मिक आस्था है कि हर व्यक्ति में बदलने की क्षमता है और उपयुक्त परिस्थिति उपलब्ध होने पर वह बदल सकता है, चेतना का रूपांतरण कर सकता है। जैसे-जैसे विचारों और संस्कारों की प्रतिबद्धता कम होती है, वैसे-वैसे व्यक्ति समर्पित होता जाता है। यह समर्पण की प्रक्रिया ही अनुशासन के विकास की प्रक्रिया है। जो जिसके प्रति समर्पित है, वह उसकी मर्यादा का कभी अतिक्रमण नहीं करेगा।

क्या अनुशासन की यह प्रक्रिया सामाजिक बन सकती है? वैयक्तिक प्रक्रिया से कुछेक व्यक्ति लाभान्वित हो सकते हैं; पूरे समाज का रूपांतरण नहीं हो सकता। आज ऐसी प्रक्रिया की खोज अपेक्षित है, जो पूरे समाज में अनुशासन को प्रतिष्ठित कर सके। अनुशासन एक मानसिक प्रशिक्षण है। मन को प्रशिक्षण दिए बिना ही हम उसे अनुशासित रखना चाहते हैं। यह कैसे संभव हो?

अनुशासन के विकास का प्रयत्न असंभव को संभव बनाने का प्रयत्न नहीं है। हम संभव को असंभव माने हुए हैं। प्रश्न इस मान्यता को तोड़ने का है। इस मान्यता का टूटना व्यक्ति और समाज—दोनों के लिए श्रेयस्कर है।

अनुशासन की समस्या है, किंतु उससे भी बड़ी समस्या यह है कि हम उसके मूल में जाने की चेष्टा नहीं करते, समस्या के मूल को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते हैं। मूल के सिंचन की बात कम सोचते हैं। केवल फूलों को संवारना चाहते हैं, पत्तों को संवारना चाहते हैं। ऐसा कभी नहीं हुआ कि फूलों और पत्तों को सींचने से फल हरे-भरे हुए हों। जड़ को सींचा जाता है, तभी सुंदरता आती है।

समस्या बाहर नहीं, भीतर है

हम समस्या का समाधान हमेशा बाहर खोजते हैं। इस एकांगी दृष्टिकोण के कारण सारी समस्याएं उलझती जा रही हैं। जबकि समस्या का उपादान हमारे भीतर में है। हम समाधान बाहर से कैसे प्राप्त कर सकते हैं? सबसे पहले हमें अपनी वृत्ति बदलनी होगी। जब तक हमारी वृत्ति नहीं बदलेगी, तब तक हमारा व्यवहार नहीं बदल सकता, हमारा आचरण नहीं बदल सकता। सबसे पहले दृष्टिकोण को बदलने की जरूरत है। हमारी दृष्टि बदलनी बहुत अपेक्षित है। जब तक अनुशासन के प्रति हमारा दृष्टिकोण सही नहीं होता, तब तक अनुशासन की स्थापना नहीं हो सकती है।

आवेगों पर नियंत्रण

दृष्टि बदलने के साथ-साथ दो बातें और अपेक्षित हैं—एक आवेगों पर अनुशासन और दूसरा इंद्रियों पर अनुशासन। हम अनुशासन को लाना चाहते हैं, किंतु स्वयं पर अनुशासन नहीं होता, स्वयं के कार्यों पर अनुशासन नहीं होता। जब तक हमारा स्वयं पर अनुशासन नहीं होगा, तब तक बात बनेगी नहीं। हर व्यक्ति में आवेग होता है, क्रोध होता है, अहंकार होता है। जब तक इन पर हमारा नियंत्रण नहीं होगा, तब तक अनुशासन की बात नहीं सोची जा सकती। आवेग दो प्रकार के होते हैं। प्रियता का भी होता है और अप्रियता का भी होता है। दोनों पर हमारा नियंत्रण होना चाहिए।

इंद्रियों पर जब तक हमारा अनुशासन नहीं होगा, तब तक हम अच्छा काम नहीं कर सकेंगे। प्रश्न है कि होगा कैसे? क्या कहने मात्र से हो जाएगा? क्या उपदेश से हो जाएगा अनुशासन? मैं ऐसा नहीं मानता हूं। कहने मात्र से अनुशासन हो जाता तो आज हर धर्म का आदमी अनुशासित होता। किंतु हम देखते हैं कि धर्म को मानने वाले लोग भी अनुशासित नहीं हैं। क्योंकि कोरा उपदेश कभी जीवन में अनुशासन नहीं ला सकता।

धार्मिक : अधार्मिक

हमें प्रयोग करना होगा। आचार्यश्री तुलसी ने इस सारी समस्या को ध्यान में रखकर ही अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया। अणुव्रत का उद्देश्य है कि मनुष्य की संकल्प-शक्ति जागे। धर्म प्रायोगिक बने। धर्म कोरे उपदेश के साथ न रहे। कोरे उपदेश से न धर्म का भला होगा, न धार्मिक का भला होगा। आज तो स्थिति यह है कि एक धार्मिक और अधार्मिक के बीच कोई भेद-रेखा ही दिखाई नहीं पड़ती। जो कार्य एक अधार्मिक कर रहा है, वही कार्य एक धार्मिक भी कर रहा है। जो भ्रष्टाचार, बेईमानी एक नास्तिक कर रहा है, वही आस्तिक भी कर रहा है। अगर कोई अंतर है तो इतना ही है कि नास्तिक या अधार्मिक को कोई प्रार्थना करने की जरूरत नहीं होती। धार्मिक आदमी बेईमानी भी करता जाता है और साथ में प्रार्थना भी करता जाता है। वह बुराई छोड़ने के लिए प्रायश्चित्त या प्रार्थना नहीं करता, बल्कि और अधिक करने के लिए करता है।

प्रेक्षा ध्यान के द्वारा परिवर्तन

बात है बदलने की। अणुव्रत आंदोलन ने एक और नया प्रयोग किया—प्रेक्षा ध्यान का। हमने देखा कि आदमी बुराई करता है, किंतु केवल परिस्थितियों के कारण ही नहीं करता। ऐसा तो केवल मान लिया गया है कि जैसी परिस्थिति होती है—आदमी वैसा बन जाता है। जब हम गहराई में उतरकर देखते हैं तो इस सिद्धांत में कोई सचाई नहीं लगती। मैं मानता हूं कि परिस्थिति भी एक निमित्त बनती है, वातावरण भी एक निमित्त बनता है। हम निमित्त को तो पकड़ लेते हैं, किंतु मूल बात को छोड़ देते हैं। मूल बात यह है कि हमारे व्यवहार और आचरण वैसे होते हैं, जैसे हमारे भीतर के रसायन होते हैं। आज की वैज्ञानिक खोजों से यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि मनुष्य का व्यवहार और आचरण वैसा होता है, जैसा व्यक्ति का स्राव होता है। जैसा व्यक्ति का स्राव होता है, वैसा ही उसका आचरण होता है।

भीतरी रसायनों में परिवर्तन

बहुत विश्वास के साथ मैं बताना चाहता हूं कि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में परिवर्तन करें या शिक्षा आयोग स्थापित हो जाएं और चाहे कितने ही धर्म-स्थानों के धर्मगुरु एकत्र हो जाएं, कितने ही राजनीतिक मंच अनुशासन लाने का प्रयास करें, जब तक हमारे रसायन नहीं बदलेंगे,

तब तक कोई भी परिवर्तन संभव नहीं है। रसायनों के परिवर्तन के बिना अनुशासन आ सके—इसकी संभावना नहीं है।

हम वैज्ञानिक दृष्टि से सोचें कि हमारे व्यवहार का नियंत्रण कौन कर रहा है? पहले यह माना जाता था कि सारा नियंत्रण मस्तिष्क के द्वारा होता है और उसे प्रधानता दी गई। हमारी शिक्षा में भी मूल आधार मान लिया गया कि मस्तिष्क का विकास होना चाहिए, बुद्धि का विकास करना चाहिए। किंतु आज बात बहुत साफ हो गई है कि कोरा बुद्धि का विकास ही पर्याप्त नहीं है। हमारी शिक्षा का काम है बुद्धि को प्रखर बना देना। पर आपको यह भी पता होना चाहिए कि बुद्धि जैसे-जैसे तेज होती है, हमारी तर्कशक्ति प्रबल होती है। ऐसा होने से हमारे भीतरं लड़ने की क्षमता और बढ़ जाती है। आज की अपराधी मनोवृत्ति, हिंसा की मनोवृत्ति, लड़ने की मनोवृत्ति का जो विकास हो रहा है—वह हमारी बुद्धि की पैनी धार के द्वारा हो रहा है। आज इस बात की जरूरत है कि हमारी चेतना जागे। चेतना को जगाने की जरूरत है। बात तो अनुशासन की करते हैं, पर लगता है कि मूर्च्छा का वातावरण इतना घना है कि कोई चेतना की बात करता है तो हम उसे स्वीकार करने की मुद्रा में ही नहीं होते हैं।

कभी-कभी बड़ी विचित्र स्थिति बन जाती है। हम सचाई को स्वीकार करने के लिए तैयार ही नहीं होते। सचाई को हम नकारते चले जाते हैं। परिस्थितियों की दुहाई देकर समस्या को और अधिक उलझाते चले जाते हैं। जब तक हम मूल तक नहीं जाएंगे, तब तक बात नहीं बनेगी।

अनुशासन आएगा कहां से? जब हम अनुशासन की विपरीत दिशा में चल रहे हैं तो वह कहां से आएगा? हम आत्मानुशासन तक पहुंचने का प्रयास करें। सत्ता का अनुशासन या राज्य का अनुशासन काम का होता है, किंतु हमें पहुंचना कहां है, यह स्पष्ट होना चाहिए। अनुशासन की स्थापना के लिए हमें आत्मानुशासन जगाना ही होगा। बिना आत्मानुशासन जागे अनुशासन की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है।

सत्य की आस्था को जगाया जा सके तो अनुशासन के लिए पृथक से प्रयत्न करने की आवश्यकता ही नहीं रहे। सत्य के सूत्र से बंधा हुआ व्यक्ति स्वयं ही अनुशासित हो जाता है। आत्मानुशासन का अर्थ है—सत्य का अनुशासन। इस अनुशासन को जीवन के अनेक स्तरों पर रूपायित किया जा सकता है—

1. आत्मानुशासन का अर्थ है—प्राणशक्ति का संतुलन।
2. आत्मानुशासन का अर्थ है—जैविक रसायनों का परिवर्तन।
3. आत्मानुशासन का अर्थ है—शरीरबल, मनोबल और बुद्धिबल का संतुलन।
4. आत्मानुशासन का अर्थ है—प्रियता और अप्रियता से मुक्त क्षण में जीने का अभ्यास।
5. आत्मानुशासन का अर्थ है—अपने भीतर हो रहे परिवर्तनों का अनुभव। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

संस्कार निर्माण में वातावरण व परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। बच्चा प्रकृति की तरह सहज, सरल और निश्छल होता है। उसका बाल-मन पूर्णतः निर्बाध होता है। बाल अवस्था में ही आसानी से निर्माण किया जा सकता है। अभिभावक यदि उसे मैत्री, सौहार्द और प्रेम के वातावरण में रखेंगे तो बच्चे में वे गुण विकसित हो जाएंगे। इससे विपरीत वातावरण मिलने पर बच्चों में वैसी ही आदतों का निर्माण हो जाएगा। एडवर्ड ब्यूरिन ने अपनी पुस्तक 'एनवायनमेंट इफेक्ट ऑन ह्यूमन माइंड' में लिखा है—'मनुष्य के मन और मस्तिष्क पर वातावरण का असर पड़ता है। वातावरण शांत, सुखद हो तो मन और मस्तिष्क स्वाभाविक रूप से विकसित होते हैं, ज्ञान के नए आयाम खुलते हैं। मनुष्य की अंतश्चेतना में अनेक उच्च स्तरीय जिज्ञासाएं पनपती हैं। वातावरण के कलुषित होने से मस्तिष्क पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। मन कुंठित और अवसादग्रस्त हो जाता है। सृजनक्षमता व क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है।

बाल-दिवस पर विशेष : 1

संस्कार निर्माण : कब और कैसे?

साध्वी विश्रुतविभा

'आइए, कुछ पल ठहरकर यह चिंतन करें कि वह क्या है जिसके लिए आने वाली पीढ़ियां हमें याद रखेंगी। क्या वे हमें इसलिए याद रखेंगी कि हमारी पीढ़ी ने कितने गिरजाघर बनवाए? क्या वे हमें इसलिए याद रखेंगी कि हमारी पीढ़ी ने कितनी मस्जिदें बनवाईं? क्या वे हमें इसलिए याद रखेंगी कि हमारी पीढ़ी ने कितने मंदिर बनवाए? क्या वे हमें इसलिए याद रखेंगी कि हमने और कितने गुरुद्वारे बनवाए? नहीं! बिल्कुल नहीं। आने वाली पीढ़ियां हमें तभी याद रखेंगी जब हम उन्हें स्वस्थ और खुशहाल भारत सौंपेंगे और सांस्कृतिक धरोहर से भरपूर आर्थिक समृद्धि देंगे।' यह कथन है भारत के राष्ट्रपति डॉ. ए. पी. जे. अब्दुल कलाम का। स्वतंत्रता दिवस की पूर्व संध्या पर राष्ट्र के नाम संदेश में उन्होंने यह कहा। राष्ट्रपतिजी का यह सपना कैसे साकार हो? यह सपना साकार हो सकता है यदि हम बच्चों को ऐसे संस्कार दे दें।

शैशवकाल में बालक का जीवन कोरे कागज के समान होता है। उस कागज पर तूलिका लेकर जैसा चाहें वैसा चित्र बनाया जा सकता है। बालक में अच्छाई और बुराई—दोनों के बीज होते हैं। उसे यदि अच्छे संस्कार दे दिए जाएं तो वह एक अच्छा इंसान बनकर देश के चरित्र को उन्नत बना सकता है। उसे अगर गलत संस्कार दे दिए गए तो वह हैवान बनकर देश के चरित्र का हनन भी कर सकता है।

कुछ देशों में बच्चों को संस्कारित करने की परंपरा है। बचपन से ही उनको ईमानदार, मेहनती बनाने के प्रयत्न शुरू हो जाते हैं। बताते हैं कि रूस में तीन वर्ष की अवस्था से ही ऐसी शिक्षा प्रारंभ हो जाती है। चीन में एक वर्ष के शिशु को इस प्रकार की शिक्षा देनी शुरू कर दी जाती है। जापान में यही शिक्षा पूरे जीवनकाल तक दी जाती है, वहां का नागरिक अपना संपूर्ण जीवन राष्ट्र के प्रति समर्पित कर देता है। यही वजह है कि वहां के व्यक्ति इस बात पर विश्वास करते हैं कि हमारा अस्तित्व देश के कारण है।

संस्कार निर्माण के लिए जिम्मेदार कौन है? हमारे राष्ट्रपति ने अपने संदेश में इस प्रश्न का उत्तर दिया है।

उन्होंने कहा है—'मैं निश्चित रूप से महसूस करता हूं कि किसी राष्ट्र को भ्रष्टाचारमुक्त और सुंदर बनाना है तो समाज के तीन प्रमुख सदस्य ही यह कर सकते हैं। ये सदस्य हैं—माता, पिता और अध्यापक।'

संस्कार निर्माण के लिए जिम्मेदार है मां। नेपोलियन ने ठीक कहा था—'शिशु का भविष्य सदैव उसकी जननी द्वारा निर्मित होता है।' उन्होंने यह भी कहा था—'तुम मुझे अच्छी माताएं दो; मैं तुम्हें एक सुदृढ़ राष्ट्र दूंगा।' एक सुसंस्कृत और सभ्य मां अपनी संतान को सुसंस्कृत और सभ्य बना सकती है। संस्कृत साहित्य में एक सूक्त प्रचलित है—**माता शत्रुः पिता वैरी याभ्यां बालो न पाठितः।** जो माता-पिता अपनी संतान को नहीं पढ़ाते हैं वे शत्रु और वैरी के समान होते हैं। गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी ने इस सूक्त को इस प्रकार कहा—**माता शत्रुः पिता वैरी याभ्यां बालो न संस्कृतः।** जो अपने बच्चों को संस्कारी नहीं बनाते वे माता-पिता शत्रु और वैरी के समान होते हैं।

आज अभिभावक अपने बच्चों को उच्च शिक्षा दिलाने का भरसक प्रयत्न करते हैं। वे उन्हें विशेष अध्ययन के लिए अमेरिका, इंग्लैण्ड, आस्ट्रेलिया, जर्मनी आदि—न जाने कहां-कहां भेजते हैं। भारत में भी कई विख्यात विश्वविद्यालयों में अवसर पाने की होड़ चलती है। ऐसे शिक्षा-संस्थानों में विद्यार्थियों का पर्याप्त बौद्धिक विकास भी होता है, किंतु उनका 'इमोशनल इंटेलीजेंसी' का विकास नहीं हो पाता। यही कारण है कि हम देखते हैं कि वे किशोर व युवा उम्र में ही गुटका, चुटकी से लेकर हेरोइन जैसे मादक द्रव्यों का सेवन करने लग जाते हैं।

महात्मा गांधी ने कहा था, 'आप अपने बच्चे को पहले मनुष्य बनाएं फिर अक्षर-ज्ञान दें।' वर्तमान में मनुष्य के निर्माण की बात तो गौण हो रही है, अक्षर-ज्ञान को अधिक प्रमुखता दी जा रही है।

बच्चे के गर्भ में प्रवेश करने के समय ही माता-पिता 'स्कूल एडमिशन' के बारे में चिंता करना शुरू कर देते हैं। जबकि होना यह चाहिए कि गर्भस्थ शिशु को संस्कारी बनाने का चिंतन किया जाए। गर्भवती महिला का उस समय विधायक चिंतन हो तो शिशु का चिंतन भी विधायक बन सकता है। यदि उस समय गर्भवती महिला का चिंतन निषेधात्मक है तो शिशु का सोच भी निषेधात्मक ही होगी। गर्भस्थ शिशु मां के चिंतन, व्यवहार और आचरण से बहुत अधिक प्रभावित होता है। अभिमन्यु ने अपनी माता सुभद्रा के गर्भ में ही चक्रव्यूह-वेधन की शिक्षा प्राप्त कर ली थी। व्यासपुत्र शुकदेव ने भी मां के गर्भ में ज्ञान प्राप्त कर लिया था। पौराणिक आख्यानों से भी यह स्पष्ट होता है कि गर्भस्थ अवस्था में संतान अत्यंत संवेदनशील होती है। अब वैज्ञानिक भी यह मानने लगे हैं कि गर्भस्थ शिशु देख सकता है, सुन सकता है और अनुभव कर सकता है। मां द्वारा गृहीत भोग्य वस्तु का वह स्वाद भी ले सकता है। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जेनेट डिइएड्रो के अनुसार नवजात शिशु एवं 23 सप्ताह के गर्भस्थ शिशु में कोई अंतर नहीं होता। दोनों का व्यवहार समान होता है। जिसे जैसे संस्कार मिलते हैं, वह वैसा ही हो जाता है।

स्पष्ट है कि अपने बच्चे को जैसा चाहे, वैसा संस्कार मां दे सकती है। बच्चे के गलत आचरण की सराहना कर वह उसे अवनति की ओर ले जा सकती है और उसके अच्छे आचरण को प्रोत्साहित कर उसे उन्नति के शिखर पर पहुंचा सकती है। तीसरी कक्षा में पढ़ने वाली एक बालिका के परीक्षा में कम अंक आए। अध्यापक ने अभिभावक के पास हस्ताक्षर के लिए अंकतालिका भेजी, पर बालिका ने अंकतालिका अपने माता-पिता या अभिभावक को नहीं दिखाई। स्वयं ने ही मां के हस्ताक्षर बनाकर अंकतालिका अध्यापक को लौटा दी। मां ने उसे हस्ताक्षर करते हुए देख लिया। प्रेम से मां ने कहा—'बेटी! यह अशोभनीय कार्य क्यों कर रही हो? कम अंक आए हैं तो कोई बात नहीं है। पुरुषार्थ करो, अच्छे अंक निश्चित आएंगे।' अपनी मां के इन स्नेह-भरे शब्दों को सुनकर बेटी को अपनी भूल का एहसास हुआ और भविष्य में किसी प्रकार की भूल न करने का संकल्प किया।

एक दूसरी घटना है। एक छोटा लड़का स्कूल से कभी पैंसिल, कभी रबड़, कभी पेन चुराकर ले आता। लाकर मां को देता। मां बच्चे के इस व्यवहार से हमेशा पसन्न होती। धीरे-धीरे बच्चे में चोरी की लत हो गई। अब केवल स्कूल से ही नहीं, वह किसी के घर या दूकान पर जाता और कुछ-न-कुछ चुराकर ले आता। एक दिन वह बहुत बड़ा लुटेरा बन गया। चोरी के आरोप में उसे फांसी की सजा सुनाई गई। मां ने गलत आदत को प्रोत्साहन दिया, बच्चे में गलत संस्कार आ गए।

इन दोनों घटनाओं से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बच्चों के निर्माण में मां का बहुत बड़ा योग है। अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि मां ने अपने बच्चे को संस्कारी बनाने के लिए कितना प्रयत्न किया है। महात्मा गांधी जब पहली बार अध्ययन के लिए विलायत जा रहे थे, तब मां ने उन्हें मांसाहार न करने का संकल्प कराया।

परिणामस्वरूप गांधीजी ने जीवन-भर निरामिष आहार किया। गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी को भी उनकी मां ने ही संस्कारित बनाया। शैशव अवस्था से ही उन्होंने उनमें अच्छे संस्कारों का बीज-वपन किया। मां के द्वारा प्रदत्त संस्कारों ने उनके व्यक्तित्व को महान बना दिया। तेरापंथ धर्मसंघ के दसवें आचार्यश्री महाप्रज्ञजी को भी अपनी मां से ही संस्कार प्राप्त हुए हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कई बार उल्लेख करते हैं—'मेरी मां ने मेरे कोमल मन पर आचार्य भिक्षु के प्रति श्रद्धा के भावों को पुष्ट किया। जब मैं छोटा था, तब देखता कि ब्रह्ममुहूर्त में उठकर मेरी मां सामायिक करती। सामायिक में भिक्षुस्वामी से संबंधित गीतिकाओं का उच्चारण करती। मैं बिस्तर पर लेटा-लेटा उनको सुनता रहता। मेरे अवचेतन मन पर वे बोल अंकित हो गए।' ये घटनाएं इस बात की प्रमाण हैं कि मां अपनी संतान को संस्कारित बना सकती है।

संस्कार निर्माण में वातावरण व परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। बच्चा प्रकृति की तरह सहज, सरल और निश्छल होता है। उसका बाल-मन पूर्णतः निर्बाध होता है। बाल अवस्था में ही आसानी से निर्माण किया जा सकता है। अभिभावक यदि उसे मैत्री, सौहार्द और प्रेम के वातावरण में रखेंगे तो बच्चे में वे गुण विकसित हो जाएंगे। इससे विपरीत वातावरण मिलने पर बच्चों में वैसी ही आदतों का निर्माण हो जाएगा। एडवर्ड ब्यूरिन ने अपनी पुस्तक 'एनवायर्नमेंट इफेक्ट ऑन ह्यूमन माइंड' में लिखा है—'मनुष्य के मन और मस्तिष्क पर वातावरण का असर पड़ता है। वातावरण शांत, सुखद हो तो मन और मस्तिष्क स्वाभाविक रूप से विकसित होते हैं, ज्ञान के नए आयाम खुलते हैं। मनुष्य की अंतश्चेतना में अनेक उच्च स्तरीय जिज्ञासाएं पनपती हैं। वातावरण के कलुषित होने से मस्तिष्क पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। मन कुंठित और अवसादग्रस्त हो जाता है। सृजनक्षमता व क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है।

आज परिवेश बदल रहा है, वातावरण बदल रहा है। प्राचीन काल में जहां रात में सोने से पहले बच्चे दादी और नानी से कहानियां सुनते थे; रामायण, महाभारत और अन्य शिक्षाप्रद कहानियां उनके जीवन को सद्गुणों की सौरभ से सुवासित करती थीं, वहां आज उन कहानियों का अभाव हो रहा है। आज टेलीविजन का बोलबाला है।

यद्यपि संस्कारों के निर्माण में दूरदर्शन की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है, बच्चा दूरदर्शन से भी संस्कार ग्रहण कर सकता है, पर तभी, जब ऐसे कार्यक्रम ही आएं। दृश्य और श्रव्य—दोनों ही विधाएं बच्चों के लिए रुचिकर होती हैं। नए-नए 'चैनल' भी प्रारंभ हो रहे हैं। उन्हें देखने का बच्चों में उत्साह भी रहता है। बालकों के अवचेतन मन को दृश्य प्रभावित भी करते हैं। इटावा (मध्यप्रदेश) में चार वर्षीय राहुल ने रिवॉल्वर से अपनी दादी की गोद में बैठी बच्ची को मार दिया और दादी भी घायल हो गई। घटना की जांच करने के लिए पुलिस उसके घर आई और घटना के बारे में पूछा तो राहुल ने बताया—उसने दूरदर्शन पर ऐसा दृश्य देखा था। रिवॉल्वर से वह दादी को भयभीत करना चाहता था, मगर उलटा हो गया। समाचार पत्र में छपी यह घटना इस बात का प्रमाण है कि दूरदर्शन का असर किस कदर घातक हो सकता है।

बताते हैं कि जापान में दूरदर्शन के चैनल पर कार्टून फिल्म का शो दिखाया गया। उसे देखकर 600 बच्चे बीमार पड़ गए। कुछ बच्चों को मिर्गी का दौरा पड़ा, कुछ बच्चे तत्काल वमन करने लगे। 'पाकेट मॉन्स्टर' का यह एक एपिसोड था। इसमें एक बालक और कंप्यूटर राक्षस को लड़ते हुए दिखाया गया था। इस दृश्य का अंत श्वेत, लाल और नीले रंग से मिश्रित रोशनी की चमक के साथ हुआ था। हरे रंग का विस्फोट लगभग एक सैकेंड का था। पूरा दृश्य लगभग एक घंटे तक चला। इस दृश्य को देखकर बच्चे बीमार पड़ गए। इस संदर्भ में मनश्चिकित्सकों की टिप्पणी थी कि दर्शकों की उम्र की दृष्टि से दृश्य इतना भयावह था कि मासूम बच्चे उससे आहत हो गए।

ये हैं दूरदर्शन के घातक परिणाम। फिर भी लोग उसे देखने के लिए लालायित रहते हैं। अमेरिका में मिशीगन विश्वविद्यालय के सामाजिक शोध संस्थान के मनोवैज्ञानिकों ने वर्षों से चल रही शोध के पश्चात् बताया कि—'टेलीविजन पर परोसी जा रही हिंसा का बच्चों पर क्षणिक असर नहीं होता, बल्कि जिंदगी के चौथाई भाग तक वह कायम रहता है।' दूरदर्शन पर चरित्र को उन्नत बनाने वाले दृश्य दिखाए जाएं तो संभव है बच्चे उनसे अच्छे संस्कार ग्रहण करें। बच्चे के नैतिक और आध्यात्मिक स्तर को ऊंचा उठाने में ऐसे दृश्य सहायक हो सकते हैं।

संस्कार निर्माण में विद्यालय का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। बालक विद्यालय में छह से आठ घंटे तक का समय व्यतीत करता है। वह छात्रों और अध्यापकों के व्यवहार और आचरण से प्रभावित होता है। प्राचीन काल में विद्यार्थी गुरुकुलवास में रहता था। गुरु के कठोर अनुशासन को सहन करता था। गुरु की पारखी नजरों से उत्तीर्ण होकर शिष्य अपने घर लौटता तब वह आदर्श व्यक्तित्व के रूप में

दिखाई देता था। आधुनिक शिक्षा-संस्थानों में नई पीढ़ी का कितना और कैसा निर्माण हो रहा है, यह जग-जाहिर है। यह चिंतनीय विषय है। एक समाचार पत्र में छपे एक सर्वेक्षण में बताया गया कि विश्वविद्यालयों, कॉलेजों और हॉस्टल में रहने वाले 60 फीसदी छात्र शराब पीते हैं, मादक पदार्थों का सेवन करते हैं। यह वर्तमान शिक्षा का एक परिणाम है।

जैन साहित्य में दो प्रकार की शिक्षा का उल्लेख मिलता है—1. ग्रहण-शिक्षा, 2. आसेवन-शिक्षा।

'ग्रहण-शिक्षा' के द्वारा बच्चा जानकारियां प्राप्त करता है। उसके मस्तिष्क का विकास हो रहा है। यह सूचनात्मक शिक्षा है। 'आसेवन-शिक्षा' अभ्यासात्मक होती है। इसके द्वारा विद्यार्थी अपने आवेश और आवेग पर नियंत्रण करता है। वर्तमान में 'ग्रहण-शिक्षा' का क्रम चल रहा है, किंतु 'आसेवन-शिक्षा' का प्रयोग ही नहीं हो रहा है। विद्यालयों में यदि विद्यार्थी को 'ग्रहण-शिक्षा' के साथ-साथ 'आसेवन-शिक्षा' का अभ्यास भी कराया जाए तो निश्चय ही संस्कारी बच्चे तैयार हो सकते हैं।

बच्चों में सीखने की अपूर्व क्षमता होती है। जैसा उन्हें सिखाएंगे वैसा वे सीख जाएंगे। बच्चे की अवस्था उस भूमि की तरह है जिसमें जो बीज बोओ, वही उग जाएगा। बाल्यावस्था अपरिपक्व अवस्था होती है। उस समय उसमें सब संस्कारों का दीप प्रज्वलित किया जा सकता है। बच्चों में अच्छे संस्कारों का निर्माण करने के लिए कुछ घटक तत्त्वों पर ध्यान केंद्रित करना होगा। यथा—

दीर्घश्वास का प्रयोग :

संस्कार निर्माण के लिए पहला घटक तत्त्व है—दीर्घश्वास का प्रयोग। बच्चा जब जन्म लेता है तब उसका श्वास दीर्घ होता है। श्वास लेते समय उसका पेट फूल जाता है, किंतु जैसे-जैसे वह बड़ा होता है उसके 'इमोशंस' प्रबल हो जाते हैं, श्वास छोटा हो जाता है। जब उसकी इच्छापूर्ति के साधन उसे मिल जाते हैं, वह प्रसन्न होता है और जब उसकी इच्छापूर्ति नहीं होती, वह रूठ जाता है, गुस्सा करता है, तोड़फोड़ की प्रवृत्ति में लग जाता है। यही समय है उसे सही निर्देशन का। बचपन में यदि वह लंबा श्वास लेना प्रारंभ कर दे तो अधिक मात्रा में ऑक्सीजन ग्रहण करेगा, उसका मस्तिष्क अधिक सक्रिय होगा। यदि उसे पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन नहीं मिलेगी तो मस्तिष्क की क्रियाशीलता कम हो जाएगी। बच्चे की समझ विकसित होते ही उसे दीर्घश्वास का अभ्यास करना सिखा दिया जाए तो निश्चित ही वह अपने-आप को बुराइयों से बचा लेगा।

एकाग्रता का प्रयोग :

संस्कार निर्माण का दूसरा घटक तत्त्व है—एकाग्रता का प्रयोग। बच्चा प्रकृति से चंचल होता है। वह कोई भी कार्य स्थिरता से नहीं करता। छोटा बच्चा बोलता कम है, किंतु उसका शरीर गतिशील रहता है। कोई खिलौना उसके सामने है—वह उसे येन-केन-प्रकारेण ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। बाल्यावस्था में यह प्रवृत्ति सम्यक् प्रतीत होती है, किंतु भविष्य में हमारे विकास को अवरुद्ध करती है। अति चपल बच्चा अपना बौद्धिक विकास नहीं कर सकता। अध्ययन करते समय उसका ध्यान विकेंद्रित हो जाता है। अध्यापक विद्यालय में जो अध्ययन कराते हैं, वह उन्हें सम्यक् रूप से ग्रहण नहीं कर पाता। प्रारंभ से ही बच्चों को ध्यान का प्रयोग सिखाना चाहिए, जिससे उनकी एकाग्रता की शक्ति का विकास हो सके।

जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफल होना हो—एकाग्रता की अनिवार्यता को नकारा नहीं जा सकता। चंचल विद्यार्थी को नीले रंग का ध्यान कराएं, उसमें परिवर्तन आना शुरू हो जाएगा। एक स्कूल के छात्र बहुत उद्दंड थे। कारण की खोज की गई तब पता चला कि स्कूल की दीवारें लाल रंग की हैं, दरवाजे, खिड़कियां और सारा फर्नीचर लाल रंग का है। विद्यार्थियों की 'यूनिफार्म' भी लाल रंग की है। इसी कारण बच्चों में अधिक उद्दंडता है। मनोवैज्ञानिकों ने सुझाव दिया कि लाल रंग के स्थान पर गुलाबी रंग का प्रयोग किया जाए। गुलाबी रंग का प्रयोग किया गया। बच्चे शांत हो गए, उनकी चंचलता समाप्त हो गई। रंगों के प्रयोग से बच्चों के पुराने संस्कारों का रेचन किया जा सकता है और अच्छे संस्कारों का आरोपण किया जा सकता है।

कायोत्सर्ग का प्रयोग :

संस्कार निर्माण के लिए तीसरा घटक तत्त्व है—कायोत्सर्ग का प्रयोग। इसके द्वारा बच्चों में सम्यक् संस्कारों का निर्माण किया जा सकता है। कायोत्सर्ग में शरीर के प्रत्येक अवयव को शिथिल किया जाता है। शिथिल अवस्था में उसे जो सुझाव दिए जाते हैं, वह उसे आसानी से ग्रहण कर लेता है। 'सुपर लर्निंग प्रॉसेस' के माध्यम से कुछ प्रयोग बच्चों पर किए गए। रात्रि में उन्हें सुला दिया गया। उनके पास एक व्यक्ति ने दो-तीन बार गीता के श्लोकों का उच्चारण किया। प्रातःकाल बच्चों के सामने एक बार श्लोक का पाठ किया। तत्काल उनको वह कंठस्थ हो गया।

शेष पृष्ठ 48 पर

प्रचलित शिक्षण-पद्धतियों में मानव के विविध अंगों में से केवल एक अंग—बुद्धि की ओर ध्यान दिया गया है। वह भी उसके विकास के बदले विलास करने वाला है। चूंकि इस पद्धति में केवल बुद्धिविलास की ओर, या उसके प्रोत्साहकों की भाषा में केवल शिक्षा की ओर, ध्यान दिया गया, इसलिए मैं उसे 'केवल-पद्धति' कहता हूं। इस पद्धति के अनेक दोष छोड़ दिए जाएं, तो भी शिक्षणशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि उसमें बाह्य आधार के बिना ज्ञान दिया जाता है, जिससे उस ज्ञान को ठूंस-ठूंसकर भरना पड़ता है। फलस्वरूप वह ठीक से याद नहीं रहता, जीवन के साथ समरस नहीं हो पाता। इसके अलावा ऐसी शिक्षा से बेकारी भी बढ़ती है।

बाल-दिवस पर विशेष : 2

शिक्षणशास्त्र—सर्वेषामविरोधेन : कर्मातिशेषेण

विनोबा

विचारों का प्रत्यक्ष जीवन से नाता टूट जाने से विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचार-शून्य बन जाता है। मनुष्य घर में जीता है और मदरसे में विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचार का मेल नहीं बैठता। इसका उपाय यह है कि एक ओर से घर में मदरसे का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर से मदरसे में घर घुसना चाहिए। समाजशास्त्र को चाहिए कि शालीन कुटुंब-निर्माण करे और शिक्षणशास्त्र को चाहिए कि कौटुंबिक पाठशाला स्थापित करे। इस लेख में शालीन कुटुंब के संबंध में विचार नहीं करना है, कौटुंबिक शाला के संबंध में थोड़ा दिग्दर्शन कराना है।

छात्रालय अथवा शिक्षकों के घर को शिक्षा की बुनियाद मानकर उस पर शिक्षण की इमारत रचने वाली शाला ही कौटुंबिक शाला है। ऐसी कौटुंबिक शाला के जीवनक्रम के संबंध में—पाठ्यक्रम को अलग रखकर—कुछ सूचनाएं इस लेख में करनी हैं। वे इस प्रकार हैं :

(1) ईश्वर-निष्ठा संसार में सारवस्तु है। इसलिए नित्य के कार्यक्रम में दोनों समय सामुदायिक उपासना या प्रार्थना होनी चाहिए। प्रार्थना का स्वरूप संत-वचनों की सहायता से ईश्वर-स्मरण होना चाहिए। उपासना में एक भाग नित्य के किसी निश्चित पाठ को देना चाहिए। 'सर्वेषामविरोधेन' यह नीति हो। एक प्रार्थना रात को सोने के पहले होनी चाहिए और दूसरी सुबह सोकर उठने पर।

(2) आहार-शुद्धि का चित्त-शुद्धि से निकट संबंध है। इसलिए आहार सात्त्विक होना चाहिए। गरम मसाला, मिर्च, तले पदार्थ, चीनी और दूसरे निषिद्ध पदार्थों का त्याग करना चाहिए। दूध और दूध से बने पदार्थों का मर्यादित उपयोग करना चाहिए।

(3) ब्राह्मण से या दूसरे किसी रसोइए से रसोई नहीं बनवानी चाहिए। रसोई का शिक्षण भी शिक्षण का एक अंग है। सार्वजनिक काम करने वालों के लिए रसोई का ज्ञान जरूरी है। सिपाही, प्रवासी, ब्रह्मचारी, सबको रसोई आनी चाहिए। स्वावलंबन का वह एक अंग है।

(4) कौटुंबिक पाठशाला को अपने पाखाने साफ करने का काम भी अपने हाथ में लेना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारण का अर्थ किसी भी मनुष्य से छुआछूत न मानना ही नहीं है, किसी भी समाजोपयोगी काम से नफरत न करना भी है। पाखाना साफ करना अंत्यज का काम है, यह भावना चली जानी चाहिए। इसके अलावा स्वच्छता की सच्ची तालीम भी इसमें है। इसमें सार्वजनिक स्वच्छता रखने के ढंग का अभ्यास है।

(5) अस्पृश्यों सहित सबको मदरसे में स्थान मिलना चाहिए। यह तो है ही, पर 'कौटुंबिक' पाठशाला में भोजन में पंक्ति-भेद रखना भी संभव नहीं। आहार-शुद्धि का नियम रखना काफी है।

(6) स्नानादि प्रातःकर्म सवेरे ही कर लेने का नियम होना चाहिए। स्वास्थ्य-भेद से अपवाद रखा जा सकता है। स्नान ठंडे पानी से करना चाहिए।

(7) प्रातःकर्मों की तरह सोने से पहले का 'सायंकर्म' भी जरूर होना चाहिए। सोने के पहले देह-शुद्धि आवश्यक है। इस सायंकर्म का गाढ़ निद्रा और ब्रह्मचर्य से संबंध है। खुली हवा में अलग-अलग सोने का नियम होना चाहिए।

(8) किताबी शिक्षण के बजाय उद्योग पर ज्यादा जोर देना चाहिए। कम-से-कम तीन घंटे तो उद्योग में देने ही चाहिए। इसके बिना अध्ययन तेजस्वी नहीं हो सकता। 'कर्मातिशेषेण' अर्थात् काम करके बचे हुए समय में वेदाध्ययन करना श्रुति का विधान है।

(9) शरीर के तीन घंटे उद्योग में लगाने और गृहकृत्य और स्वकृत्य स्वतः करने का नियम रखने के बाद दोनों समय व्यायाम करने की जरूरत नहीं है। फिर भी एक समय अपनी-अपनी जरूरत के मुताबिक खुली हवा में खेलना, घूमना या कोई विशेष व्यायाम करना उचित है।

(10) कातने को राष्ट्रीय धर्म तथा प्रार्थना की भांति नित्यकर्म में गिनना चाहिए। उसके लिए उद्योग के समय के अलावा कम-से-कम आधा घंटा समय देना चाहिए। इस आधे घंटे में तकली का उपयोग करने से भी काम चल जाएगा। कातने का नित्यकर्म यात्रा में या कहीं भी छोड़े बिना जारी रखना हो तो तकली ही उपयुक्त साधन है। इसलिए तकली पर कातना तो आना ही चाहिए।

(11) कपड़े में खादी ही बरतनी चाहिए। दूसरी चीजें भी जहां तक संभव हो, स्वदेशी ही लेनी चाहिए।

(12) सेवा के सिवा दूसरे किसी भी काम के लिए रात को जागना नहीं चाहिए। बीमार आदमी की सेवा इसमें अपवाद है। पर मौज के लिए या ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी रात्रि-जागरण निषिद्ध है। नींद के लिए ढाई पहर रखने चाहिए।

(13) रात को भोजन नहीं करना चाहिए। आरोग्य, व्यवस्था और अहिंसा, तीनों दृष्टियों से इस नियम की आवश्यकता है।

(14) प्रचलित विषयों में संपूर्ण जागृति रखकर वातावरण को निश्चल रखना चाहिए।

प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कौटुंबिक शाला के जीवनक्रम के संबंध में ये चौदह सूचनाएं दी गई हैं। इनमें किताबी शिक्षण और औद्योगिक शिक्षण के पाठ्यक्रम के बारे में ब्योरा नहीं दिया गया है। उस संबंध में लिखना होगा तो स्वतंत्र रूप में लिखना पड़ेगा।

बुद्धि-विलास : केवल-पद्धति

प्रचलित शिक्षण-पद्धतियों में मानव के विविध अंगों में से केवल एक अंग—बुद्धि की ओर ध्यान दिया गया है। वह भी उसके विकास के बदले विलास करने वाला है। चूंकि इस पद्धति में केवल बुद्धि-विलास की ओर, या उसके प्रोत्साहकों की भाषा में केवल शिक्षा की ओर, ध्यान दिया गया, इसलिए मैं उसे 'केवल-पद्धति' कहता हूं। इस पद्धति के अनेक दोष छोड़ दिए जाएं, तो भी शिक्षणशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि उसमें बाह्य आधार के बिना ज्ञान दिया जाता है, जिससे उस ज्ञान को ठूंस-ठूंसकर भरना पड़ता है। फलस्वरूप वह ठीक से याद नहीं रहता, जीवन के साथ समरस नहीं हो पाता। इसके अलावा ऐसी शिक्षा से बेकारी भी बढ़ती है।

परिशेष-पद्धति

दूसरी पद्धति है—'परिशेष-पद्धति'। जिस तरह किसी ग्रंथ का परिशिष्ट होता है, उसी तरह शिक्षा के परिशिष्ट-रूप में इसमें उद्योग को स्थान दिया जाता है। इस पद्धति में उद्योग के शामिल होने पर भी उसका महत्त्व पूंछ सरीखा ही माना जाता है। इसके अलावा, उद्योग एक मनोरंजन, खेल या अलंकार के रूप में अपनाया जाता है। शिक्षा का श्रम मिटाने के लिए या प्रदर्शन-भर के ही लिए उसका उपयोग किया जाता है।

समुच्चय-पद्धति

तीसरी पद्धति 'समुच्चय-पद्धति' है। इस पद्धति में उद्योग और शिक्षण, दोनों को समान महत्त्व देने का प्रयत्न किया जाता है। यानी ज्ञान के लिए जितना समय दिया जाता है, उद्योग के लिए भी उतना ही। मिट्टी-पानी का अर्थ घड़ा नहीं है। दोनों को मिलाकर कुम्हार जब उसमें अपनी कला उंड़ेलता है, तब घड़ा तैयार होता है। समुच्चय-पद्धति में शिक्षण पाने वाले को संतोष नहीं होता। उसे ऐसा लगता है कि मेरा शिक्षण का समय व्यर्थ ही उद्योग में बीता जा रहा है। वह कभी लाचार होकर उद्योग करता है, कभी स्वार्थवशात् और कभी शिक्षण कहकर। चूंकि इस पद्धति में उद्योग शिक्षा के अंग के रूप में समाविष्ट नहीं किया जाता, इसलिए उसके प्रति उपजीविका के साधनमात्र की दृष्टि

रहती है। इस दृष्टि से उसकी प्रतिष्ठा शिक्षण की अपेक्षा कम ही है। इसलिए उद्योग करते हुए भी उसे उसमें उतनी रुचि नहीं मालूम होती। इसके अलावा शिक्षा और उद्योग, इन दोनों का परस्पर मेल नहीं बैठता। शिक्षा में चल रहा होगा 'शाकुंतल' या अफ्रीका का भूगोल और उद्योग में उसे आवश्यक होगी बढ़ईगिरी की, लकड़ी के भूगोल की जानकारी। इस कारण दोनों के विषय एक-दूसरे के पूरक नहीं हो पाते।

संयोजन-पद्धति

उपर्युक्त तीनों पद्धतियों से भिन्न 'संयोजन' नाम की एक पद्धति शिक्षणशास्त्री जानते हैं। 'कर्म द्वारा ज्ञान', समवाय-पद्धति का यह सूत्र इसमें मान लिया है, लेकिन इस पद्धति में कर्म को गौण स्थान दिया है। कुछ ज्ञान देना है तो उसके अनुकूल एक संयोजन लेकर पढ़ाया जाता है। लेकिन वह कृत्रिम-सा होता है।

समवाय-पद्धति

समवाय-पद्धति में कोई एक जीवनव्यापी और विविध अंगयुक्त मूल-उद्योग शिक्षण के माध्यम के तौर पर लिया जाता है। यह उद्योग शिक्षण का सिर्फ एक साधन नहीं, बल्कि उसका अविभाज्य अंग होता है। उस उद्योग के द्वारा इन तीनों उद्देश्यों की पूर्ति की जाती है : (1) बच्चे की सब तरह की शक्तियों का विकास करना, (2) बच्चे को जीवनोपयोगी विविध ज्ञान देना और (3) बच्चे को आजीविका का एक समर्थ साधन प्राप्त करा देना। इस उद्देश्य की पूर्ति का एक छोटा-सा, लेकिन महत्त्व का सबूत यह है कि बच्चों के काम में से पाठशाला के शिक्षण के खर्च का कुछ अंश निकले, ऐसी अपेक्षा की जाती है।

इस तरह समवाय-पद्धति प्रचलित सारी शिक्षण-पद्धतियों से भिन्न और अब तक के अनुभवों की निष्कर्ष-रूप अंतिम परिणति है।

इस पद्धति में जो मूलोद्योग चुना जाए, वह व्यापक और विविध अंगयुक्त होना चाहिए, यह बात ऊपर कही ही गई है। हिंदुस्तान की आज की हालत देखते हुए 80 प्रतिशत पाठशालाओं में ऐसा जो मूलोद्योग शुरू किया जा सकता है, वह मेरी राय में कातने का ही हो सकता है। सात साल की उम्र के बच्चों को दृष्टि में रखकर मैं यह कह रहा हूं। ❖

पद्धति-पंचक

घड़ा और मिट्टी एक है या दो? आप अगर 'दो' कहेंगे, तो हमारी मिट्टी हमें दे दीजिए और अपना घड़ा ले जाइए। घड़ा और मिट्टी 'एक' है, ऐसा अगर आप कहेंगे, तो वह मिट्टी का ढेर पड़ा है, भरिए पानी। मिट्टी और घड़े के इस संबंध को 'समवाय' कहते हैं। वर्धा-शिक्षण-पद्धति को मैंने 'समवाय-पद्धति' नाम दिया है, क्योंकि इस पद्धति में उद्योग और शिक्षण का इस तरह का 'समवाय' गृहीत है।

बच्चों के सारे शिक्षण की रचना किसी एक मूल-उद्योग पर खड़ी की जाए। उद्योग से शिक्षण को गरमाहट मिले और शिक्षण से उद्योग पर प्रकाश डाला जाए। इसका नाम है—'समवाय-पद्धति'।

औद्योगिक शिक्षण एक अलग चीज है। उसमें सिर्फ उद्योग सिखाया जाता है। वह मिट्टी का ढेर है। किताबी पढ़ाई अलग चीज है। उसमें सिर्फ ज्ञान दिया जाता है। वह घड़े का चित्र है। देख लीजिए, लेकिन पानी भरने के काम का वह नहीं।

—विनोबा

संतोष एक नंदन-वन है। उसमें रमण करने वाला कभी दुखी नहीं होता है—'न तोषात् परमं सुखम्'—अर्थात् संतोष से बढ़कर दुनिया में कोई सुख नहीं है। संतोष आदमी को शक्तिशाली बनाता है। यह व्यक्ति का सबसे बड़ा निधान है। यह निधान कभी बाहर से नहीं खरीदा जाता है।

न तोषात् परमं सुखम्

साध्वी स्वर्णरेखा

संसरणं संसारः। संसार में भ्रमण करने का नाम है संसार। स्थानांग सूत्र में संसार चार प्रकार का बताया है—'चउव्विहे संसारे पण्णत्ते, तं जहा—दव्व संसारे, खेत्त संसारे, काल संसारे, भाव संसारे। अर्थात् षड्-द्रव्यरूप—द्रव्य संसार। चतुर्दशरज्जु परिमित क्षेत्र रूप—क्षेत्र संसार। दिन-रात पक्ष-मास यावत् पुद्गल परावर्तनों तक परिभ्रमण रूप—काल संसार तथा कर्मोदय से उत्पन्न होने वाले विभिन्न राग द्वेषात्मक विचार रूप—भाव संसार। चार गति, चौरासी लाख जीव-योनि में जीव परिभ्रमण करता रहता है। महानिशीथ में कहा है—चौदह रज्ज्वात्मक लोक में बाल के अग्रभाग जितना भी स्थान खाली नहीं है, जहां इस जीव ने अनंत बार मरण प्राप्त न किया हो। वह कभी मूक बना है, कभी वाचाल बना है।

लख चौरासी योनि में गूंगा बावन लाख।
बत्तीस लाख है बोलता, लख चौपन बिन नाक।।

यह संसार महाभय वाला है। जहां जीव कभी मृत्यु से पीड़ित होता है, कभी वृद्धावस्था से। 'प्रदीप्ताङ्गारकल्पोयं संसारः सर्वदेहिनाम।' सभी प्राणियों के लिए यह संसार धधकते हुए अंगारे के समान है, जहां दो क्षण के लिए भी आराम नहीं है। किसी हिंदी कवि ने कहा है—

हर सांझ वेदना एक नई, हर भोर सवाल नया देखा।
दो घड़ी नहीं आराम कहीं, मैंने घर-घर जा देखा।।

यह सत्य है, संसारी प्राणी किसी-न-किसी वेदना से पीड़ित रहता है। कभी परिवार की वेदना से तो कभी पुत्र की वेदना से, कभी शरीर की वेदना से तो कभी मृत्यु की वेदना से। अनगिन वेदनाओं से संतप्त रहता हुआ वह एक क्षण के लिए भी आनंद की बंसी नहीं बजा सकता और संसार समुद्र को पार नहीं कर सकता। योगवाशिष्ठ में कहा है—अगर संसार समुद्र से तरना है तो—1. संतोष 2. साधु संगति 3. सद्विचार और 4. कषायों का शमन—इन बिंदुओं का आलंबन लो।

संतोषः साधुसङ्गश्च, विचारोऽथ शमस्तथा।
एत एव भवाम्बोधा-वुपायास्तरणे नृणाम।।

संतोष

संतोष एक नंदन-वन है। उसमें रमण करने वाला कभी दुखी नहीं होता है—'न तोषात् परमं सुखम्'—अर्थात् संतोष से बढ़कर दुनिया में कोई सुख नहीं है। संतोष आदमी को शक्तिशाली बनाता है। यह व्यक्ति का सबसे बड़ा निधान है। यह निधान कभी बाहर से नहीं खरीदा जाता है।

काम-क्रोध-लोभ—त्रयविकारों का शमन करने वाला संतोष इहलोक और परलोक से मुक्ति दिलाने में समर्थ है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—'लोहं संतोसओ जिणे' लोभ को संतोष से जीतो। जिसका मन संतुष्ट होता है, उसके पास सभी संपत्तियां रहती हैं। 'स्वलाभ में संतोष'—चार सुखशय्याओं में एक सुखशय्या है जो मुक्ति का दर्शन कराती है। सूत्रकृतांग सूत्रानुसार—'संतोषिणो नो पकरेंति पावं'—संतोषी व्यक्ति पाप नहीं करता। इसलिए भव-भ्रमण से मुक्त होने में समर्थ होता है।

साधु संगति

संत न छोड़े सन्तई, कोटिक मिले असंत।
मलय भुजंगहि बेधिया, शीतलता न तजन्त।।

संत अपनी संतता नहीं छोड़ते हैं, इसलिए ही सत्संग व्यक्ति की मलिनता, अस्थिरता और अज्ञता को दूर करता

है तथा पतित को पावन बनाता है। राजा संप्रति संत-समागम होते ही शिकार छोड़कर संत बन गया। राजा श्रेणिक अनाथी मुनि के उपदेश से धर्म में रत हो गया। राजा प्रदेशी केशी मुनि के प्रभाव से साधु बन गए। नित्य छह प्राणियों का वध करने वाला अर्जुन महावीर की संगति से तर गया। लोगों की अंगुलियां काट-काटकर मालाएं पहनने वाला अंगुलिमाल डाकू गौतम बुद्ध की संगति से पावन बन गया। संतों की संगति उत्तम शांति देने वाली है। 'स्तोकोऽपि गुणि संसर्गोः श्रेयसे भूयसे भवेत्'—गुणिजनों का अल्प संपर्क भी श्रेय के लिए होता है। क्षण-भर की सत्संगति संसार-समुद्र से तारने में समर्थ होती है। 'क्षणमिह सज्जन संगतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका'।

भगवती सूत्र में कहा है—पर्युपासना—अर्थात् संतों की उपासना करने से व्यक्ति श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, संयम, संवर, तप, निर्जरा, अक्रिया और सिद्धि को प्राप्त करता है। इसलिए संतों की संगति जीवन नौका को पार पहुंचाने वाली है।

सद्विचार

जीवन की धरती पर पैदा होने वाले सद्विचार मणि-मुक्ता से भी अधिक मूल्यवान हैं। इसलिए विचारों को पवित्र रखकर व्यवहार को मधुर बनाएं और यह चिंतन करें कि सद्-विचार/सम्यक् विचार वि-चार। चार-विः-विद्या-विनय-विवेक और विषयों से अनासक्ति है या नहीं। क्योंकि इनके अभाव में सद्विचारों का उत्स प्रवाहित हो नहीं सकता।

सद्विचारों के बिना सम्यक्त्व सुरक्षित रह पाना—एक प्रश्न है? अगर हमारा सम्यक्त्व सुरक्षित नहीं रहेगा तो भव-भ्रमण की सीमा कर नहीं पाएंगे। सद्विचार-शुभलेश्या का जनक है। व्यक्ति जैसे विचारों में प्राण त्यागता है, वैसी ही गति का निर्धारण कर लेता है। आगमों में कहा है—'जल्लेसे मरई तल्लेसे उववज्जई'—जैसी लेश्या में मरता है, वैसी ही लेश्या में पैदा हो जाता है। इसलिए सद्विचार वीतरागता अर्थात् 14वें गुणस्थान तक पहुंचा देता है और कुविचार प्रथम गुणस्थान में ही टिकाए रखता है। गुणस्थानों का विकास-क्रम सद्विचारों पर ही आधारित है। जितनी-जितनी भावों की शुद्धि होगी, जीव उतना ही अधिक भव्य, पवित्र बनेगा और संसार-समुद्र को पार कर सकेगा।

कषायों का शमन

'राग द्वेषात्मकोतापः कषायः'—राग-द्वेष के उत्ताप को कषाय कहते हैं। कषाय आत्मा को मलिन बनाते हैं।

कषाय जीवन में निषेधात्मक भावों को पैदा करते हैं। कषायों की विद्यमानता में व्यक्ति कभी भी अपना विकास नहीं कर सकता है। वह हरपल हार का ही दरवाजा खोलता है। कषाय जीवन की सफलता में विघ्न है। कहा है—'उत्तापकत्त्वं हि सर्वकार्येषु सिद्धिनां प्रथमोऽन्तरायः'—ताप/कषाय कार्यों की सिद्धि में विघ्न पैदा करने वाला विजातीय तत्त्व है।

क्रोध, मान, माया, लोभ का जब तक शमन नहीं होगा, तब तक सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत और यथाख्यात चारित्र प्राप्त नहीं होगा। इसलिए अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय का शमन जीवन के लिए श्रेय है। इसके बिना कोई भी साधना अपना रंग नहीं दिखा सकती है तथा न ही संसार-समुद्र से कोई तर सकता है। संसार-सागर से तरने के लिए कषायों का शमन आवश्यक है। ❖

सांस्कृतिक व धार्मिक समन्वय का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि हम मजहब को ही हीन समझें और उसे राष्ट्र के जीवन में उचित स्थान व सम्मान देने में संकोच करें व हिचकिचाएं। हमारे 'सेक्यूलर' राज्य में एक हिंदू को अच्छा हिंदू बनना चाहिए, जो अपने धर्म की जानकारी के अलावा दूसरों के धर्मों के बुनियादी सिद्धांतों के प्रति भी समुचित आदर रखे। इसी तरह एक मुसलमान या ईसाई को अधिक अच्छा मुसलमान व ईसाई बनने में संतोष होना चाहिए और साथ-ही-साथ दूसरे मजहबों की भी कद्र करना चाहिए। 'सेक्यूलर' के लिए आजकल हिंदी में 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द प्रचलित हो गया है। मेरी दृष्टि से यह शब्द सारगर्भित नहीं है। वह नकारात्मक है। सही शब्द तो 'सर्वधर्म-समभावी' राज्य होगा, यद्यपि वह जरा बड़ा लगता है और शायद कुछ अटपटा भी है।

यूरोप में इस शब्द का भले ही दूसरा अर्थ रहा हो, किंतु भारत को 'सेक्यूलर' राज्य तभी कहा जाएगा जब यहां के प्रत्येक नागरिक को अपने-अपने धर्म का पालन करने का पूरा अवसर हो और विभिन्न मजहबों के प्रति जनता की सद्भावना हो।

—श्रीमन्नारायण

जब भी वह दिखती, उनके मन में विस्मय, कुतूहल और आनंद जगाती। न तो वह बैठती पल-भर, न आवाज करती, बस इधर से उड़कर पता नहीं कहां गायब हो जाती। लेकिन उसके छिप जाने के बहुत देर बाद भी शंकर मिश्र को लगता रहता कि वे एक नया जीवन, एक अलग पृथ्वी, एक भिन्न अनुभूति के भीतर हैं। यहां उनके लिए सारा-कुछ आनंदमय है। यह विचित्र अनुभूति उनकी चेतना को कुछ दिनों तक आच्छन्न किए रहती और ऐसे समय रोजमर्रा का अभ्यस्त जीवन उन्हें काटने लगता, ये जो चारों तरफ के संस्कार हैं, यह जो नित्य की ऐंद्रिक अनुभूति है, वास्तव वह नहीं, बल्कि अन्य है।

कहानी

चिड़िया

गोपीनाथ महांति

वैशाख की शुरुआत। तीसरे पहर के साढ़े तीन बजे। ढलती धूप भी जलती-सी। सामने बाईं तरफ कृष्णचूड़ा के दो पेड़। ईंट-रंगी फूलों से लदे बीच-बीच में पत्तों के झोथे। दाईं तरफ किस्म-किस्म के लाल फूलों की छावनी-सी बनाती बुगेनवेलिया की लतरें। लगता है, वे भी जल रही हैं। शंकर मिश्र अन्यमनस्क ताक रहे थे, जैसे आग लग गई हो और सब-कुछ जल रहा हो। आह! कैसी विभीषिका!

अचानक याद आया, वह नन्ही चिड़िया आखिर गई कहां? महज उसकी याद से ही जैसे धूप कहीं ओट हो गई, ठंडी विरल छांह से गुजरकर सर-सर आती हवा ने छू लिया उनका शरीर, सुनाई पड़ी पहाड़ी झरने की कल-कल करती आवाज। ऊंचे-ऊंचे वृक्षों के ऊपर सबुजरंगी चंदोवे में सजे हैं गुच्छे-गुच्छे लाल फूल। जगह-जगह पलाश लता के झूले। और सामने इस तरफ से उस तरफ, उस तरफ से इस तरफ उड़ रही है वह नन्ही चिड़िया। लाल चोंच, इंद्रनील रंग की चिकनी देह, उड़ते वक्त ही नजर आती वह काली-सी झलक। अचानक कहीं गुम जाती, फिर दिखती और फिर गायब।

इन दिनों उसका वही वर्ण। बारिश के दिनों में बारिश थमने पर हठात कहीं वह दिख जाती, तो नन्हे उड़ंत इंद्रधनुष-सी लगती। देह उसकी उसी वर्ण की। और शीत में जबकि दिन की रोशनी म्लान होती, उस वक्त वह लगती रक्त गुंजे के रंग की।

जब भी वह दिखती, उनके मन में विस्मय, कुतूहल और आनंद जगाती। न तो वह बैठती पल-भर, न आवाज करती, बस इधर से उड़कर पता नहीं कहां गायब हो जाती। लेकिन उसके छिप जाने के बहुत देर बाद भी शंकर मिश्र को लगता रहता कि वे एक नया जीवन, एक अलग पृथ्वी, एक भिन्न अनुभूति के भीतर हैं। यहां उनके लिए सारा-कुछ आनंदमय है। यह विचित्र अनुभूति उनकी चेतना को कुछ दिनों तक आच्छन्न किए रहती और ऐसे समय रोजमर्रा का अभ्यस्त जीवन उन्हें काटने लगता, ये जो चारों तरफ के संस्कार हैं, यह जो नित्य की ऐंद्रिक अनुभूति है, वास्तव वह नहीं, बल्कि अन्य है।

यहां सिर्फ वे सपना देख रहे हैं और सब-कुछ झूठ है, पर कुछ ही दिनों बाद ऐसी दुविधा या प्रश्न की स्थिति फिर नहीं होती और जीवन सामान्य गति से आगे बढ़ने लगता। लेकिन जब किसी समस्या, जंजाल या मनस्ताप के चलते उनका मन भारी होने लगता, निराशा दबोचने लगती, लगता कि जैसे रोशनी की आखिरी लौ को बुझा देने के लिए घिरने लगा है काले बादलों से भरा अंधेरा, तब पता

नहीं कैसे तो दमकने लगती उम्मीद और विश्वास जाग जाता कि ना, दूर हो जाएगी समस्या।

मन के भीतर दबी-छुपी होती उत्प्रेक्षा, कि फिर वही सुख-भरा पल अभी आ पहुंचेगा जबकि वे फिर देखेंगे उस चिड़िया का उड़ना, अपने ऐन सामने, फिर वह अलग कोई जगह, अलग कोई समय।

उसके बाद कभी फिर कहीं वह अचानक दिख जाती।

शंकर मिश्र याद करते रहते कि अतीत में कब और किन-किन जगहों में वे मिले थे उस चिड़िया से। वह कोई सामान्य चिड़िया तो नहीं थी और हर जगह मिलती भी नहीं थी। दिखती लोकालय-विहीन घने जंगलों में या फिर उन जंगलों से उड़कर आई वह विचित्र चिड़िया अचानक टकरा जाती किसी अमराई के रास्ते पर, और फिर छिप जाती और वह भी कभी-कभार। चारों तरफ निर्जनता और सन्नाटा होने पर ही वह दिखती और तब वहां कोई दूसरी चिड़िया या जीव-जंतु नहीं होते।

लेकिन कब देखा था उन्होंने, याद करने के लिए शंकर मिश्र मन-ही-मन अथक प्रत्यन करते। वे तिहत्तर के हो चुके हैं, किसी समय का हट्टा-कट्टा शरीर बार-बार बीमारियों की मार से एकदम क्षीण हो गया है। दुर्बल और अक्षम। कभी बड़े उत्साह से तरह-तरह की जटिल समस्याओं को उधेड़कर-उघाड़कर देख सकने वाला मन, अब थोड़ा भी मानसिक परिश्रम के काम में पिछड़ जाता है, थोड़ा-सा सोचने पर ही थक जाता है। स्मृति इतनी कमजोर और ढिलमल हो चुकी है कि अब अंगरची बातें भी याद नहीं आती। शंकर मिश्र कभी-कभी सोचते हैं—'यही? ना, यह भी तो नहीं! ...हां हां, यही—ना, नहीं, याद नहीं आ रहा।' सोचकर रास्ता छोड़ते, जाग-जागकर स्वप्न देखते। उसी अतीत की अनुभूति में से कुछ छलककर तिर-तिर आतीं ऊपर। न जाने कब की देखी उस चिड़िया का आसरा करके, सख्त मुट्ठी में जैसे उसे पकड़े वे उसी तरह स्वप्निल ध्यान में डूबे रहे और अतीत को याद करने लगे, कि कब किस जगह पर, किस परिवेश में उन्होंने उसे देखा था? एक जगह के बाद दूसरी जगह, अपने जीवन के नाना वक्तों के ढेर-ढेर चित्र, सब उगते और बुझ जाते, ध्रुव होकर, आगे-आगे दूर दिखती रहती वह चिड़िया। दिख गए जाने कितने-सारे दृश्य, कितनी-सारी स्मृतियां, तैर गईं सुख-दुख की, तरह-तरह के भावों का उल्लास दिपदिपाने लगा। जैसे असीम जल-विस्तार में अनेक लहरें। फिर दब गईं, खो गईं। फिर दिखने लगीं। कितने भाव, कितने रस, कितना सुंदर संगीत झंकृत हो उठा, फिर बुझ गया, सब सुनसान! फिर उसे कब और कहां देखा था, सोचकर आशा, आवेग कौंधने लगा। याद आ गई किसी बीते दिन की स्मृति। और उसके साथ-साथ शंकर मिश्र देख गए, अपने यौवन से अधेड़पन और बुढ़ापे तक की अनेक तस्वीरें, जबकि कहीं-न-कहीं पर तो उन्होंने उस चिड़िया को देखा था।

याद आया, पहली बार दिखी थी शुरू जवानी में। जवानी के साथ-साथ शरीर में उमड़ पड़ा था तंदुरुस्ती और ताकत का ज्वार। और वह क्रमशः उसी तरह बढ़ता गया, जैसे अपने बचपन के दिनों में पुरी के समुद्र के किनारे ज्वार का तेजी से उमड़ना और फिर बढ़ते ही जाना उन्होंने देखा था। तेजी से बढ़ने लगी जवानी और उनका शरीर कितना ताकतवर, कितना कर्मठ हो गया। और मन में उस समय कितनी शक्ति, कितनी प्रफुल्लता, कैसा साहस, कैसा तेज, कितनी आशा, कितने स्वप्न! अधेड़ उम्र भी ऐसे गुजर गई जैसे वे चिर युवा हों। किसी से भय नहीं था, किसी प्रतिबंध को मानते नहीं थे, अथक मेहनत कर सकते थे, हर पल अटूट रहती थी आशा और विश्वास। कब उस ज्वार में भाटा पड़ा, पता नहीं चला। धीरे-धीरे, सीढ़ी-दर-सीढ़ी, नीचे और नीचे। उस वक्त भी कभी कहीं पर उन्होंने देखी थी वह चिड़िया।

उसके बाद, पहाड़ी झरने की बाढ़ जैसे उतर जाती है, पीछे छोड़ जाती है फदफदाते पानी की छोटी-सी धार—जो कि कुछ ही दिनों में सूख जाएगी—वैसे ही आ गया यह समय, जैसे मलिन क्लांत सूर्यास्त और...

'आखिर किसकी है यह हाड़-त्वचामय क्षीण देह? पतले मरियल हाथ-पैर, जैसे सचमुच निर्जीव, सिर्फ पिंड-भर है, मुट्ठी-भर खाना और बीमारी, कमजोरी, अक्षमता का कष्ट भोगने के लिए। लेकिन जीभ अभी भी स्वाद का फर्क पहचानती है और उतना-भर खोजती है, कौन है यह?'

सोच रहे थे—यह क्या मैं हूं? शंकर मिश्र? ओठों पर हंसी नहीं। पता नहीं, कब से मैं नहीं हंसा। पहले तो ठहाके छूटते थे। किसी वस्तु, किसी विषय में कोई दिलचस्पी नहीं, सब को परे ठेलकर, सिर्फ अपने-आप को लिए-लिए, मन मारकर बैठे-बैठे वक्त काटने की इच्छा होती है। खुद को असहाय अकेले अथर्व बूढ़े की तरह सोचता हूं, 'सचमुच! कौन है यह बूढ़ा मेरे सामने? ना-ना-ना, यह मैं नहीं हूं, मैं तो शंकर मिश्र हूं, उम्मीद और उत्तेजना, बल और साहस, हंसी और खुशियों का खजाना तू गलत पते पर खोज रहा है, बुड्ढे! यहां वह नहीं है, यहां मैं, मैं शंकर मिश्र, तू जा, जा, जा...'

आखिरी बार कब मैंने उस चिड़िया को देखा था? कल जैसी बात लगती है। हां, पूरे सात बरस हो गए। उस वक्त यानी नीलमाधव के दर्शन को जाते-जाते, नयागढ़ के भीतर एक सुनसान जंगल में। कार डाकबंगले के अहाते में खड़ी की थी और मैं अकेले जंगल में इधर-उधर घूमते हुए चारों तरफ देख-ताक रहा था। दिन के चार का वक्त होगा। लेकिन वह वहां की रहने वाली नहीं है, जरूर बालिगुड़ा पर्वतमाला के अभ्यंतर से दशपल्ला के जंगल के रास्ते इधर आई होगी। उसी तरफ है उसका घर, और उत्तर में, दक्षिण में, जितनी भी ऊंची-ऊंची पर्वतमालाएं हैं, वहां भी। मैं फिर उन पर्वतों की ओर जाऊंगा। वहां किस्म-किस्म की धातुओं और खनिज-पदार्थों को खोजने का जो काम मैंने किया था, वह काम क्या अभी भी पूरा हो सका है?-और भी बहुत बाकी है। फिर जाऊंगा उसी काम के लिए, वहीं घने जंगल में फिर होगी अचानक मुलाकात उस चिड़िया से, शाल वृक्ष के नीचे निःशब्द-निस्पंद मैं खड़ा रह जाऊंगा। जैसे कभी-कभी जंगली हाथी खड़ा रहता है।

और उसे देखकर पहाड़ चढ़ने की सारी थकान भूल जाऊंगा। पसीने-भरे चेहरे को सहला रही होगी, सरसराती बहती होगी मंद हवा, वन-फूलों की गंध से भरी। और कितनी शांत, कितनी शीतल! और साथ के लोग? वे तो कितने पीछे हांफते-हांफते आ रहे थे। भला चलने में कभी कोई मेरा मुकाबला कर सका है?

दिख रही थीं लहरों की तरह पर्वतमालाएं। पहाड़ के ऊपर पहाड़, उसके ऊपर और उसके ऊपर, विमान की तरह सजे।

मन में एक उल्लास की ऊष्मा।

आंख फाड़कर, शंकर मिश्र बाहर की परछी पर कुर्सी पर बैठे दीवार से टिककर ढलंग गए थे। ❖

अनुवाद : **प्रभात त्रिपाठी**

हमारे चित्त को बौद्धिक कल्पनाओं का और जिसे हम 'पदार्थ' कहते हैं उसका भान होता है और वे दोनों के साथ काम ले सकते हैं। परंतु जहां तक हम जानते हैं 'पदार्थ' को अपना भान नहीं होता और न वह स्वयं अपने साथ या बौद्धिक कल्पनाओं के साथ काम ले सकता है (यद्यपि वह दोनों से प्रभावित हो सकता है); इसलिए सत्य के अमूर्त पहलू का अर्थात् चित्त का सर्वोपरि महत्त्व मालूम होता है।

यह सच है कि मानव-शरीर के कुछ या सब भागों के दोषों के कारण या उनके स्थगित हो जाने के कारण चित्त के कार्य में गंभीर बाधा पहुंच सकती है, अथवा कभी-कभी पहुंचती है। परंतु उससे यह सिद्ध नहीं होता कि पदार्थ चित्त से श्रेष्ठ है। किसी बढ़ई को खराब औजार देने से या सारे औजार उससे छीन लेने से यह प्रमाणित नहीं होता कि औजारों का अस्तित्व बढ़ई के अस्तित्व से पहले था या औजारों ने बढ़ई को बनाया या औजार बढ़ई से श्रेष्ठ हैं अथवा उसका नियंत्रण करते हैं। इस प्रकार का एक उदाहरण कुमारी हेलन केलर का है, जो शिशुकाल से ही बिल्कुल बहरी, गूंगी और अंधी थी। एक प्रतिभावान और निष्ठावान शिक्षिका की मदद से और अपने अदम्य संकल्प-बल से उसने पढ़ना-लिखना सीख लिया और अपना विकास एक अत्यंत बुद्धिशाली और सुसंस्कृत व्यक्ति के रूप में, वस्तुतः एक महान महिला के रूप में, कर लिया। उसके चित्त ने कठोर शारीरिक बाधाओं पर विजय प्राप्त की है।

—रिचर्ड बी. ग्रेग

राजेन्द्र उपाध्याय की कविताएं

लिप्सा

जब मैं बच्चा था
तब मेरी मुट्ठी में
समाते थे
केवल चार-पांच दाने

अब समा जाता है पूरा आकाश
और पूरी धरती
फिर भी मुट्ठी खाली ही रहती है।

मेरे भीतर नीला आसमान अब भी है

मेरे भीतर नीला आसमान अब भी है
मेरे भीतर चिड़ियाएं चुग रही हैं अब भी
जबकि समय ने चारों ओर
जाल बिछा दिया है
अदृश्य शतरंजी चालों का

अब भी जिंदा है मेरे भीतर एक खरगोश
हरी-हरी दूब पर फुदकता हुआ
जबकि चारों ओर रेंगता हुआ जहर है
कंटीली बाढ़ें हैं...

इस बांझ समय में मेरे भीतर कहीं
लहलहाते हुए वृक्ष हैं मैदान हैं हरे भरे
जहां कूकती है कोयल अब भी
और पंछी बनाते हैं घोंसले

मेरे भीतर मछलियां तैर रही हैं अब भी
जबकि समुद्र और नदियां और जलाशय
रेगिस्तान में बदलते जा रहे हैं

जबकि लोग भाग रहे हैं
भूकंप या आग की दहशत से
मेरे भीतर कुछ बच्चे
अब भी फुदक रहे हैं...

तुम मुझे इतना वक्त तो दो

एक फूल को सूंघ सकूं
एक पेड़ के नीचे सुस्ता सकूं
और एक बच्चे के साथ हंस सकूं

तुम मुझे इतना वक्त तो दो।

एक गाय की पीठ थपथपा सकूं
एक कबूतर के घाव धो सकूं
और सुन सकूं
अपने भीतर से आती मां की आवाज

तुम मुझे इतना वक्त तो दो।

तारे की तरह

मैं
एक तारे की तरह
दूर किसी आसमान में
पैदा हुआ

जब तक पहुंचेगी
तुम तक
मेरी रोशनी
मैं विदा हो जाऊंगा।

शीलन

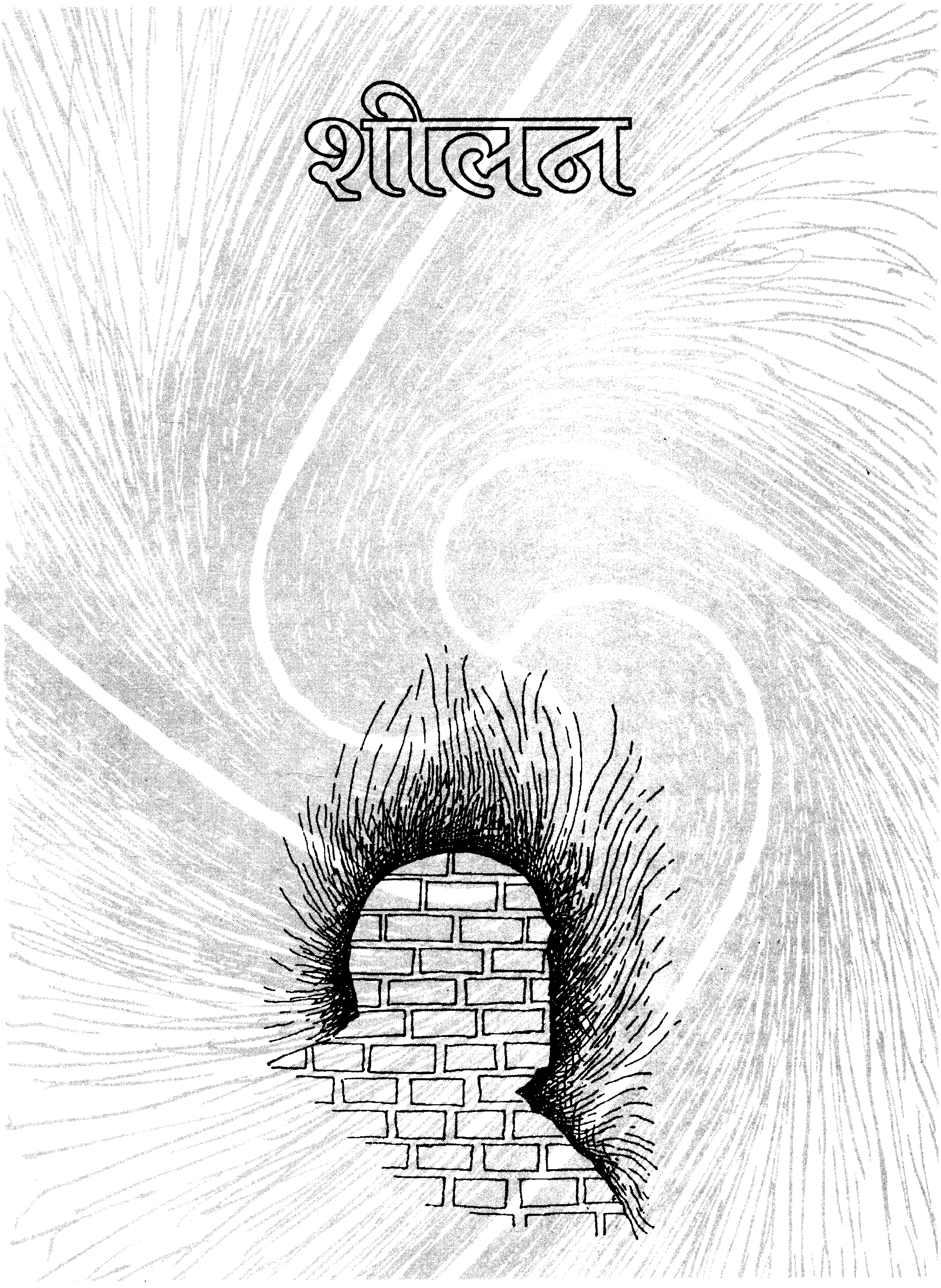

संस्कृति के अंतर्गत मिथ के स्वरूप और धर्म की अवधारणा को बिना मानवीय व्यक्तित्व और उसकी रचनात्मक प्रक्रिया के समझना संभव नहीं है। मिथ अपनी आंतरिक प्रक्रिया में कारण या तर्क पर आधारित नहीं होता, पर उसमें मनुष्य के व्यक्तित्व का संश्लिष्ट रूप लक्षित होता है और उसकी रचनाशीलता को देखा जा सकता है। मिथ की प्रक्रिया तर्कपूर्व होने पर भी असंगत या अर्थहीन नहीं होती। इसी प्रकार धार्मिक सत्य परा-प्राकृतिक, परा-तार्किक होता है। थामस अक्वेनस के अनुसार ऐसा होकर भी धार्मिक सत्य को तर्कविहीन नहीं मान सकते। तर्कमात्र से हम धार्मिक आस्था के रहस्यों में प्रवेश नहीं पा सकते, फिर भी ये रहस्य विरोधाभासी नहीं हैं, इस स्तर पर वे तर्क को पूर्णता और सर्वसंपन्नता प्रदान करते हैं। मानवीय संस्कृति के दर्शन के अंतर्गत निश्चय ही हम तत्त्ववाद और धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओं जैसे प्रश्न नहीं करते। जब हम मनुष्य के संश्लिष्ट व्यक्तित्व और प्रतीकात्मक सृजनधर्मिता पर विचार कर रहे हैं, तो विषयवस्तु के बारे में प्रश्न नहीं उठता।

—प्रो. रघुवंश

सभी जीवों में आत्मा का अस्तित्व समान है। इसलिए सभी जीवों की समानता स्वतः सिद्ध हो जाती है। कर्मों के तारतम्य के कारण जीवों के विकास में भी तारतम्य आ जाता है, फिर भी कुछ गुण सभी जीवों में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। दस प्रकार की संज्ञाएं सभी जीवों का सामान्य लक्षण है। वैज्ञानिक भी संज्ञा को सभी छोटे-बड़े जीवों में स्वीकार करते हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा के अतिरिक्त क्रोध, मान, माया और लोक-संज्ञाओं का अस्तित्व सब जीवों में होता है। लोक-संज्ञा और ओघ-संज्ञा जैविक आवश्यकता की पूर्ति हेतु अनिवार्य हैं। इन संज्ञाओं की विद्यमानता ही पृथ्वी आदि में जीवों का अस्तित्व सहज रूप से प्रमाणित कर देती है। इसके अतिरिक्त सुख-दुख का वेदन आदि लक्षण भी इनके जीवत्व का बोध कराते हैं। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से जीवमात्र में समायोजन-व्यवस्था, संवेदनशीलता, संचार-व्यवस्था, उद्दीपन, चयापचय, वृद्धि, विकास और प्रजनन—इन गुणों का सद्भाव पाया जाता है। जैन दर्शन में जीव के जो लक्षण स्वीकार किए गए हैं, उनमें उक्त गुणों का समाहार शब्दशः हो जाता है।

षड्जीवनिकाय सिद्धांत : वैज्ञानिक-दार्शनिक दृष्टि

मुनि तत्त्वरुचि 'तरुण'

आत्मा की सत्ता का विवेचन भारतीय संस्कृति में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सर्वत्र किया गया है। हमारे समग्र जीवचक्र का केंद्र आत्मा ही है। सृष्टि के संचालन एवं नियमन में आत्म-तत्त्व का विशेष महत्त्व है। समस्त दर्शनों का मुख्य ध्येयबिंदु ही आत्मा है। वेदों में भी आत्म-तत्त्व पर जिज्ञासा हुई है। ऋग्वेद के एक ऋषि के मन में जिज्ञासा पैदा हुई कि मैं कौन हूं? कैसा हूं? वेदांत-दर्शन के अनुसार आत्मा एक है। उपनिषद के अनुसार आत्मा शरीर से विलक्षण, मन से भिन्न, विभु, व्यापक और अपरिणामी है। वह वाणी द्वारा अगम्य है। उसका विस्तृत स्वरूप नेति-नेति के द्वारा बताया गया है। वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न प्राण है, न मुख है, न अंतर है, न बाहर है। सांख्य आत्मा को नित्य, निष्क्रिय, सर्वगत एवं चिद्-स्वरूप, अमूर्त, चेतन, भोगी, अकर्ता, निर्गुण, सूक्ष्म मानता है। न्याय-दर्शन में जीव शब्द नहीं मिलता, लेकिन आत्मा शब्द है—जो जीव का वाच्य है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख, ज्ञान—ये आत्मा के चिह्न हैं। इनके अनुसार आत्मा, नित्य और विभु है। बौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते हैं। ये आत्मा के अस्तित्व को वस्तुसत्य नहीं, काल्पनिक संज्ञा-मात्र कहते हैं। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य-स्वरूप, परिणामी-स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होने वाला कर्ता और भोक्ता स्वयं अपनी सत-असत् प्रवृत्तियों से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय करने वाला और उनका फल भोगने वाला, स्वदेह परिमाण, न अणु, न विभु, किंतु मध्यम परिमाण का है।

जीव एवं उसके भेद

जीव शब्द भारतीय दर्शनों में आत्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। अध्यात्म का सीधा संबंध आत्मा से है। आत्मा को जानना, देखना और पाना—यही उसका आदि, मध्य और अंत है। जीव, अर्थात् जिसमें चेतना है—वह जीव है। जीव के दो प्रकार—प्रथम संसारी, दूसरा मुक्त। संसार के सभी जीवों को छह भागों में बांटा जा सकता है—पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस। यह विभागीकरण काय के आधार पर किया गया है। काय अर्थात् शरीर। जिस जीव

का शरीर जिस पदार्थ से बना, उसके आधार पर उस जीव को स्वतंत्र वर्ग में रखा गया।

जैन दर्शन ने पृथ्वी आदि जीवनिकायों का सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप में विवेचन प्रस्तुत किया है। आचार्य हेमचंद्र ने भगवान महावीर की स्तुति में कहा कि आपकी सर्वज्ञता का केवल एक ही प्रमाण पर्याप्त है, वह है आप द्वारा छह जीव निकायों के जीवत्व का निरूपण। यद्यपि वनस्पति और द्वींद्रिय आदि प्राणियों में जीवन की सत्ता तो सभी मानते हैं, किंतु पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु भी सजीव हैं—यह अवधारणा जैन दर्शन की अपनी विशिष्ट है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि के आश्रित होकर जो जीव रहते हैं—वे इनसे भिन्न हैं। मूलतः संसारी जीव के दो भेद हो सकते हैं—स्थावर और त्रस। यह विभागीकरण गति-क्षमता के आधार पर किया गया है। जिन जीवों में गति क्षमता विकसित नहीं होती—वे स्थावर और जिनमें होती है—वे त्रस कहलाते हैं। पृथ्वीकाय आदि पांच प्रकार के जीव स्थावर तथा त्रसकाय के जीव त्रस कहलाते हैं। सभी जीवों में आत्मा का अस्तित्व समान है। इसलिए सभी जीवों की समानता स्वतः सिद्ध हो जाती है। कर्मो के तारतम्य के कारण जीवों के विकास में भी तारतम्य आ जाता है, फिर भी कुछ गुण सभी जीवों में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। दस प्रकार की संज्ञाएं सभी जीवों का सामान्य लक्षण है। वैज्ञानिक भी संज्ञा को सभी छोटे-बड़े जीवों में स्वीकार करते हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा के अतिरिक्त क्रोध, मान, माया और लोक-संज्ञाओं का अस्तित्व सब जीवों में होता है। लोक-संज्ञा और ओघ-संज्ञा जैविक आवश्यकता की पूर्ति हेतु अनिवार्य हैं। इन संज्ञाओं की विद्यमानता ही पृथ्वी आदि में जीवों का अस्तित्व सहज रूप से प्रमाणित कर देती है। इसके अतिरिक्त सुख-दुख का वेदन आदि लक्षण भी इनके जीवत्व का बोध कराते हैं। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से जीवमात्र में समायोजन-व्यवस्था, संवेदनशीलता, संचार-व्यवस्था, उद्दीपन, चयापचय, वृद्धि, विकास और प्रजनन—इन गुणों का सद्भाव पाया जाता है। जैन दर्शन में जीव के जो लक्षण स्वीकार किए गए हैं, उनमें उक्त गुणों का समाहार शब्दशः हो जाता है। कर्ता, भोक्ता, स्वदेहपरिमाण, उपयोगमय, ऊर्ध्वगामी आदि लक्षणों को ही विज्ञान में प्रकारांतर से स्वीकार कर लिया गया है।

सूक्ष्मजीवों की सचेतनता के निम्नोक्त आगमिक और वैज्ञानिक आधार हैं।

आगमिक आधार :

पृथ्वीकाय : जिसकी काया पृथ्वी है, वह पृथ्वीकायिक जीव कहलाता है। कच्ची मिट्टी, खनिज पदार्थ, नमक आदि पृथ्वीकायिक जीव हैं। पृथ्वीकाय के जीवों का आरंभ तीन प्रकार के द्रव्यशस्त्र से होता है। स्वकायशस्त्र, परकायशस्त्र और तदुभय कायशस्त्र।

पृथ्वीकाय में जीवत्व की सिद्धि आगम प्रमाण से सिद्ध है। आधुनिक विज्ञान भी इसकी सिद्धि के कुछ ठोस प्रमाण प्रस्तुत करता है। विशिष्ट आचार्यों ने भी अपनी अंतःप्रज्ञा से ऐसे तर्क रखे जो सूक्ष्म जीवों के जीवत्व की पुष्टि करते हैं—

1. आगम सूत्र भगवती के अनुसार पृथ्वीकाय के जीव कभी छह दिशाओं से, कभी पांच, कभी चार, कभी तीन दिशाओं से श्वास ग्रहण करते हैं।

2. एकेंद्रिय जीवों के दो करण होते हैं। कायकरण और कर्मकरण। प्रवृत्ति, संवेदन और ज्ञान जिससे संपादित होता है—वह करण है।

3. पृथ्वीकाय के जीव शुभ अथवा अशुभ करण से वेदना का वेदन करते हैं। अकरण से नहीं।

4. शरीर की अवगाहना—इनका शरीर बहुत ही सूक्ष्म है। पीसे जाने पर कोई जीव घट्टी से संघटित होता है। कोई नहीं भी।

5. असंख्य जीवों का पिंडीभूत शरीर ही दिखाई दे सकता है।

6. भोगित्व—एक इंद्रिय (स्पर्शनेंद्रिय) होने के कारण ये जीव केवल भोगी होते हैं। कामी नहीं।

7. आश्रव—इन जीवों में महाआश्रव वाले, महावेदना वाले और महानिर्जरा वाले जीव होते हैं तथा कभी अल्प आश्रव वाले, अल्प क्रिया वाले, अल्प वेदना वाले, अल्प निर्जरा वाले जीव होते हैं।

8. जरा और शोक—उनमें जरा तो होती है, किंतु शोक नहीं है, क्योंकि मन नहीं है।

9. उन्माद (पागलपन)—यक्ष, आवेशजनित तथा मोहकर्मजनित—दोनों प्रकार के उन्माद इनमें होते हैं। जैसे कोई हीरा प्रेत-आविष्ट होने पर धारण करने वाले व्यक्ति को उन्मत्त बना देता है।

10. संज्ञा—इनमें आहार से लेकर ओघ तक—दसों संज्ञाए होती हैं।

11. ज्ञान—उनका ज्ञान अव्यक्त बोध के रूप में होता है। मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान के द्वारा वे मनुष्य की भाषा या मन से उत्पन्न प्रकंपनों को स्पर्श-इंद्रिय के माध्यम

से पकड़ सकते हैं। जैसे—उन्मत्त या मूर्च्छित व्यक्ति में अव्यक्त बोध होता है। वैसा उनमें होता है।

12. आहार—उनमें प्रतिक्षण आहार की अभिलाषा बनी रहती है। वे आहार-गृहीत पुद्गलों के वर्ण आदि गुण को बदलकर एक वर्ण आदि गुण उत्पन्न कर लेते हैं तथा आत्मसात कर लेते हैं।

13. पर्यव—उनमें अनंत पर्यव होते हैं।

14. अज्ञेयता—यद्यपि पृथ्वीकायिक जीव में वृक्ष की तरह सूक्ष्म स्नेह होता है, किंतु सूक्ष्मता के कारण अज्ञेयता है।

15. कषाय—उनके कषाय आदि भाव सूक्ष्म होने से इंद्रिय द्वारा अज्ञेय हैं।

16. लेश्या—इनमें चार लेश्याएं हैं—प्रथम चार। उनका आभामंडल भी होता है। आचार्य कुंदकुंद ने इनकी जीवत्व सिद्धि के लिए अतींद्रिय ज्ञान को आधार बताया है कि जैसे मस्से से मांसांकुर फूटते हैं, वैसे ही पर्वत में समान जातीय शिला का उद्भेद होता है। आचार्य के अनुसार जैसे मूर्च्छित जीवों में चेतना अव्यक्त होती है, वैसे ही इनकी चेतना अव्यक्त होती है। जैसे जन्म से विकलांग या विकल इंद्रिय वाला मनुष्य उसका छेदन-भेदन करने पर उसे व्यक्त नहीं कर पाता, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीव नहीं कर पाते, अर्थात मूर्च्छित व्यक्ति भी अव्यक्त वेदना का अनुभव करता है—वैसे ही ये जीव करते हैं।

वैज्ञानिक आधार

आधुनिक विज्ञान ने पृथ्वी की सजीवता पर अनुसंधान किया है। हक्सले नामक वैज्ञानिक ने बताया है कि एक पैंसिल की नोक जितनी मिट्टी में दो अरब से ज्यादा जीवाणु होते हैं। भगवान महावीर ने सूई की नोक जितने भाग में असंख्य जीवों की प्ररूपणा की है।

वैज्ञानिक दृष्टि से पृथ्वी में एककोशीय और बहुकोशीय—दो प्रकार के जीव होते हैं, जो अतिसूक्ष्म हैं। ये स्थावर होते हैं। उन्हें जीवाणु कहते हैं। ये जीवित माध्यम के संपर्क में आने पर वृद्धि करते हैं और उनकी संख्या असंख्य बन जाती है। वंश-वृद्धि का घटक तत्त्व डी. एन. ए. एककोशीय जंतु में भी होता है। पृथ्वीकायिक जीवों में वृद्धि की क्षमता को विज्ञान ने स्वीकार कर लिया है। आधुनिक वैज्ञानिक मानते हैं कि शिला-खंड, पर्वत आदि में हानि-वृद्धि होती रहती है। उनमें क्लांति, चयापचय और मृत्यु-चैतन्य—ये तीनों लक्षण पाए जाते हैं। बद्रीनाथ के पहाड़ों की ऊंचाई में पिछले 70 वर्षों में 107 मीटर की वृद्धि हुई है। हिमालय की शृंखला 100 वर्षों में 10 सेमी. की गति से ऊंची हो रही है। वैज्ञानिकों ने पचास देशों की मिट्टी के 10,000 कुलों का पता लगाया है। जैन दर्शन ने जीव-योनि और कुल-कोटियों की संख्या इनसे भी अधिक मानी है। जैसे मनुष्य के शरीर के घाव भर जाते हैं, वैसे ही खोदी हुई खानें भी पुनः भर जाती हैं। किंतु खान से निकला हुआ पत्थर नहीं बढ़ सकता। इन सब आधारों से स्पष्ट है कि पृथ्वीकाय जीव है।

अप्काय—जैन दर्शन के अनुसार पानी स्वयं जीव है। भगवान महावीर ने पानी के जीवों का अस्तित्व अपनी आत्मा के समान माना है। उन्होंने बताया कि जल की एक बूंद में पृथक्-पृथक् असंख्य जीव होते हैं। जब तक विरोधी शस्त्र न लगे तब तक जल सचित्त होता है। विरोधी शस्त्र के योग से वह अचित्त हो जाता है। इन एकेंद्रिय जीवों के विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है कि जल में भी जीव है। अप्कायिक जीवों को निष्प्राण करने वाले शस्त्रों में उत्सेचन, गालन, धावन तथा स्वकाय, परकाय एवं तदुभयकाय शस्त्र प्रमुख हैं। वैज्ञानिकों ने माइक्रोस्कोप के द्वारा पानी की एक बूंद में हजारों त्रसजीव हैं—यह सिद्ध कर दिया है। निर्युक्तिकार ने अप्काय की सजीवता को इस तर्क के आधार पर सिद्ध किया है कि वह द्रव है। व्याप्ति देते हुए बताया है कि जो-जो द्रव शस्त्र से अनुपहत होता है, वह सचेतन होता है। जैसे हाथी के शरीर का उपादान कलल तथा अंडे के मध्य स्थित कलल। पृथ्वीकाय की तरह अप्काय के लिए भी श्वासोच्छ्वास से लेकर लेश्या तक के सारे सोलह बिंदुओं के आधार पर आगमों में उसकी सचेतनता को भलीभांति स्पष्ट किया गया है।

तेजस्काय—जल की तरह अग्नि भी जीव है। अपने अस्तित्व की तरह अग्नि-जीवों का अस्तित्व भी स्वीकार्य है। निर्युक्तिकार ने खद्योत (जुगनू) के शरीर में दृष्ट प्रकाश को हेतु मानकर अग्नि का जीवत्व सिद्ध किया है। ऊष्मावान होने के कारण अग्नि जीव है, जैसे ज्वर की ऊष्मा। वृत्तिकार के अनुसार ईंधन (आहार) से वृद्धि और ईंधन के अभाव में हानि देखी जाती है। आधुनिक वैज्ञानिकों का भी यही मत है कि प्राणवायु (आक्सीजन) के अभाव में अग्नि प्रज्वलित नहीं होती। इससे अग्नि का जीवत्व सिद्ध हो जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञानी ने शुक्ल ध्यान के माध्यम से उसको साक्षात् जाना है।

वनस्पतिकाय—वनस्पतिकाय की तुलना मनुष्य से करते हुए आचारांगसूत्र में ही वैज्ञानिक रूप में वनस्पति के

जीवत्व को स्पष्ट किया है। जन्मधर्मा, वृद्धिधर्मा, चिंतवान, छिन्न होने पर म्लान होना, आहार-ग्रहण, अनित्यत्व, अशाश्वतत्व, चयापचय प्रक्रिया तथा विपरिणामधर्मा—इन नौ हेतुओं के आधार पर वनस्पति को मनुष्य के साथ तुल्य बताया गया है। इसका ग्रहण स्पष्ट रूप से उसकी सचेतनता को असंदिग्ध बना देता है। पौधों को होने वाला कष्ट, उनका आभामंडल आदि अब विज्ञान जगत में स्वीकृत तथ्य है। चूर्णिकार ने पौधे में घटित होने वाले स्वप्न, दोहद, रोग आदि भी जीव के लक्षण के रूप में बताए हैं। इसी प्रकार विशेषावश्यकभाष्य में भी वनस्पति के जन्म, बुढ़ापा, जीवन, मृत्यु, व्रणसंरोहण, आहार, दोहद, रोग, रोग की चिकित्सा के आधार पर बहुत ही वैज्ञानिक रूप में वनस्पति की सजीवता को प्रमाणित किया है। वनस्पति का स्पर्श-मात्र से सिकुड़ना, लताओं का वृक्ष पर चढ़ना, शमी आदि में निद्रा, जागृति, संकोच का होना, बकुल, अशोक, आदि पौधों द्वारा विषयों के सेवन आदि तथ्य भी वनस्पति के जीवत्व का हेतु बनते हैं। वर्तमान युग में जीवविज्ञानशास्त्री प्रो. जगदीशचंद्र बोस ने प्रयोग करके वनस्पति की सजीवता सिद्ध कर दी है।

त्रसकाय—अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, संमूर्च्छिम, उद्‌भिज तथा औपपातिक—ये आठ प्रकार त्रस जीव के हैं। इनमें द्वींद्रिय से लेकर पंचेंद्रिय तक सभी कीट-पतंग, पशु-पक्षी तथा मनुष्य, देव और नारक का समावेश हो जाता है। त्रसजीव का जीवत्व प्रत्यक्ष में अनुभूत होता है।

वायुकाय—यद्यपि वायुकाय क्रम के अनुसार चौथे क्रम में है, फिर भी जैन आगम आचारांग में उसका उल्लेख अंत-ही-अंत में किया गया है। क्योंकि वायु की सचेतना सबसे अधिक दुःश्रद्धेय है। अग्नि और वायु—दोनों स्थावर हैं, किंतु अग्नि वायु की तरह तिरछी गति नहीं कर सकती। इसलिए इन दोनों की गति त्रस के रूप में मानते हुए भी तेजस्काय का निरूपण स्थावरों के साथ किया गया है और वायुकाय का त्रसकाय के साथ। वायुकाय के शस्त्र भी पृथ्वीकाय की तरह स्वकायशस्त्र, परकायशस्त्र, तदुभयशस्त्र आदि के रूप में बताए गए हैं। सभी स्थावरकाय वाले जीव समान रूप से वैसे ही वेदना का अनुभव करते हैं जैसे जन्मना अंध, बधिर, मूक, पशु आदि—अवयवहीन मनुष्य को शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर होता है।

षड्‌जीवनिकायवाद का यह सिद्धांत भगवान महावीर की मौलिक देन है। अहिंसा और संयम की पृष्ठभूमि में षड्‌जीवनिकायवाद का सिद्धांत है। भगवान महावीर ने कहा—जो जीव को नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता, वह संयम कैसे जानेगा? अहिंसा का अनुपालन कैसे करेगा? प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। इस उपदेश का सम्यक् पालन वही कर सकता है, जिसे षड्‌जीवनिकाय का सम्यक् अवबोध हो जाता है। अहिंसा और संयम की साधना के लिए इनका ज्ञान अनिवार्य है। इस ज्ञान की पृष्ठभूमि पर अहिंसा और संयम का अनुशीलन और प्रयोग संभव हो सकता है। ❖

संस्कार निर्माण : कब....पृष्ठ 33 का शेष

शिथिलीकरण की अवस्था में बच्चे की सीखने की क्षमता बढ़ जाती है।

कायोत्सर्ग की अवस्था में नई आदत का निर्माण किया जा सकता है और पुरानी आदतों का रेचन किया जा सकता है। किसी बच्चे में नशा करने की आदत है, उसे कायोत्सर्ग के लिए तैयार कीजिए। एक-एक अवयव पर चित्त को ले जाएं, जागरूकता से सुझाव दें कि प्रत्येक अवयव शिथिल हो रहा है। शिथिल होने के पश्चात् सुझाव दें कि 'नशे की आदत समाप्त हो रही है।' नौ बार इस वाक्य को दोहराएं। पहले इसका उच्चारण करें, फिर मानसिक रूप से इसे दोहराएं। सुझाव को अवचेतन मन तक पहुंचा दें। जब तक सुझाव अवचेतन तक नहीं पहुंचेगा आदत का रूपांतरण नहीं होगा। चरित्र, आदत और संस्कार का संबंध मस्तिष्क के अवचेतन भाग से है। इसे प्रभावित किए बिना इनका निर्माण नहीं हो सकता। कायोत्सर्ग का प्रयोग इन सबके लिए अचूक ओषधि है।

संकल्प-शक्ति का प्रयोग :

संस्कार निर्माण के लिए चौथा घटक तत्त्व है—संकल्प-शक्ति का प्रयोग। बच्चों में बचपन से ही संकल्प-शक्ति को जागृत करने का प्रयत्न करना चाहिए। दृढ़ संकल्प किसी भी व्यक्ति को साध्य-सिद्धि तक पहुंचा देता है। संकल्प के सहारे असंभव प्रतीत होने वाला कार्य भी संभव हो जाता है।

बच्चों में संकल्प-शक्ति का प्रबल होना आवश्यक है। हर बच्चा चाहता है कि मुझे परीक्षा में अच्छे अंक मिलें, मैं जिसका चिंतन करूं वह कार्य हो जाए। परीक्षा में अच्छे अंक मिल सकते हैं, मनचाहा कार्य भी हो सकता है, बशर्ते बच्चे की दृढ़ इच्छा-शक्ति हो। अनुप्रेक्षा के प्रयोग द्वारा संकल्प-शक्ति को पुष्ट किया जा सकता है।

निश्चित ही दीर्घश्वास, एकाग्रता, कायोत्सर्ग और संकल्प-शक्ति जैसे प्रयोगों के द्वारा तलहटी से उठकर सफलता के शिखर पर आरोहण किया जा सकता है। ❖

आमतौर पर हमारे मन में चिंताएं वर्तमान की नहीं, अपितु बीते हुए कल की घटनाओं की अथवा भविष्य की ही होती हैं। ये चिंताएं व्यक्ति को इस कदर कमजोर बना देती हैं कि वर्तमान के अमूल्य क्षण ही नष्ट हो जाते हैं। जो बीत गया, सो बीत गया। उसे दिमाग में न रखें, तभी वर्तमान को सफल बनाया जा सकता है। काल के इस महासागर को पार करने में केवल आज और अभी तत्पर रहना होगा। बीते कल की चिंता करके उसे सुधारा नहीं जा सकता, जबकि इस चिंता में वर्तमान का क्षण अवश्य ही हाथों से फिसल सकता है। काल का चक्र अनवरत घूमता रहता है। भविष्य की चिंता में वर्तमान को गंवाने का अर्थ है—आत्मविनाश। अतः क्षणजीवी बनें, अपनी पूरी ऊर्जा, चेतना और क्षमता का उपयोग वर्तमान को सफल बनाने में लगाएं।

न दैन्यं न पलायनम्

साध्वी जयमाला

मनुष्य को चिंतनशील प्राणी माना गया है। वह उर्वर मस्तिष्क का धनी है और प्राणीमात्र में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है, क्योंकि उसके पास विवेकरूपी नेत्र हैं, कल्पना-शक्ति से ओत-प्रोत है। आधुनिक युग में मानव-मस्तिष्क ने नाना प्रकार के आविष्कारों को जन्म दिया है। मस्तिष्कीय ऊर्जा के भंडार से आज का मानव भरा-पूरा है, पर इस शक्ति का, ऊर्जा का सही उपयोग हो, यह आज सर्वाधिक विचारणीय प्रश्न है।

देखा जाता है कि अधिकांश व्यक्ति अपनी शक्ति का सही उपयोग नहीं कर पाते। व्यर्थ की कल्पनाओं में अनावश्यक चिंताओं से लोग घिरे रहते हैं, जिससे सही निर्णय, सही चिंतन करने की क्षमता नष्ट हो जाती है। नकारात्मक मानसिक स्थितियों से बुरी तरह प्रभावित होकर भी लोग निस्सहाय हो जाते हैं। व्यक्ति अपने-आप को अंदर-ही-अंदर दुर्बल-अशक्त महसूस करने लगता है। कई बार तो यह भी देखा जाता है कि व्यक्ति चिंता की आग में अहर्निश जलता रहता है। चिंता मनुष्य के मस्तिष्क को खोखला बना देती है और चिंतन-शक्ति क्षीण होने पर धीरे-धीरे वह अशांत, व्यथित बन जाता है। मन में भय, आशंका और निष्क्रियता उत्पन्न हो जाती है। मन और शरीर भीतर-ही-भीतर घुलने लगता है। चिंता-रूपी उस पिशाचिनी से छुटकारा पाना दुर्निवार हो जाता है। एक संस्कृत श्लोक में बताया है—

चिंता चिता समा प्रोक्ता, को भेदश्चिता चिंतयोः
चिता दहति निर्जीवं, चिंता सजीव-मप्यहोः॥ 1॥

अर्थात्—चिंता और चिता दोनों समान हैं। चिता में तो मनुष्य का पार्थिव शरीर ही भस्म होता है, वह भी मृत्यु के पश्चात्। किंतु चिंता मनुष्य को जीते-जी ही, केवल शरीर को ही नहीं, वरन् उसके मन और जीने के संपूर्ण उत्साह एवं विवेक को भी भस्म कर डालती है। चिंताग्रस्त मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप में नहीं, अपितु अपने छायारूप में जीता प्रतीत होता है। निश्चय ही इस चिंता में घुलने वाले लोग प्रायः बुद्धिमान होते हैं, वे बहुत संवेदनशील भी होते हैं। वे केवल अपनी ही नहीं, पराए की चिंता में घुलते हुए पाए जा सकते हैं। चिंता के कई कारण हो सकते हैं। कभी वह प्रेमवश होती है, तो कभी स्वार्थवश और कभी असुरक्षा की भावना से। ऐसे लोग प्रायः आशंकाओं से ग्रस्त पाए जाते हैं। सामाजिक निंदा, आर्थिक असुरक्षा, दायित्व का बोझ, पदोन्नति न मिलने की आशंका, परीक्षा अथवा इंटरव्यू में विफलता, कदम-कदम पर दुर्घटना की आशंका, प्रेम या आदर न मिलने की

आशंका—आदि-आदि। ऐसी अनेक बातों से व्यक्ति का मन बोझिल बना रहता है।

देखा गया है कि चिंता में घुलने वाले प्रायः कल्पनाशील ज्यादा होते हैं। जैसे—कवि, साहित्यकार, कलाकार, संगीतकार आदि। सफल परिवार और मैत्री संबंधों वाले तथा उच्च कोटि के व्यापारी, वैज्ञानिक भी चिंताग्रस्त पाए जा सकते हैं। कई बार ऐसे लोगों की प्रतिभा और कल्पनाशीलता जहां सकारात्मक रूप अपनाने पर सृजनशीलता का वरदान बन जाती है, वहीं नकारात्मक रूप लेने पर उनके लिए अभिशाप बन जाती है। उन्हें भय और आशंकाओं के माध्यम से चिंताग्रस्त कर देती है।

अस्तित्ववादियों ने तो चिंता में जीने की अपेक्षा आत्महत्या को पसंद किया। वे चिंता से छुटकारा पाने का तरीका नहीं खोज पाए। प्रख्यात लेखक कामू ने 'द मिथ ऑफ सिसिफस' नामक पुस्तक में यहां तक लिख डाला कि इस संसार में एक ही गंभीर दार्शनिक समस्या है—आत्महत्या, जीवन की चिंताओं से छुटकारा पाने का और कोई मार्ग नहीं है।

चिंता से जीवन में प्रगति, शांति और सुख के सभी द्वार बंद हो जाते हैं। चिंताग्रस्त व्यक्ति तरह-तरह की बीमारियों से ग्रस्त हो जाता है। कई बार तो उससे पूरा परिवार ही दुखमय बन जाता है।

चिंता से उत्पन्न होने वाले तनाव और दबाव का एक प्रमुख कारण व्यक्ति में आत्मविश्वास की कमी होना है।

चिंताग्रस्त व्यक्ति के अंदर हीनग्रंथि काम करने लगती है। वह हमेशा अपनी तुलना दूसरों से करता है और अपने को हीन मानकर घुटता रहता है। क्षमता होते हुए भी वह अपनी शक्ति और परिस्थिति का अवमूल्यन करता है।

प्रत्येक प्राणी में दो प्रकार की विचारधारा पाई जाती है—सकारात्मक और नकारात्मक। नकारात्मक कल्पनाएं जीवन को बोझिल बना देती हैं। उससे व्यक्ति जीवन से ऊबने लगता है। कहीं सकारात्मक कल्पनाएं जीवन को सरसब्ज व मूल्यवान बना देती हैं और व्यक्ति को आंतरिक प्रसन्नता एवं संतुष्टि प्राप्त होती है। वास्तव में हमारे भीतर अनंत शक्ति भरी पड़ी है, जो अभिव्यक्ति का अवसर पाते ही प्रस्फुटित हो सकती है और कल्पित आशंकाओं तथा गलत धारणाओं को ध्वस्त कर देती है।

इस संसार में प्राणीमात्र का जीवन एक संघर्ष है। संघर्षों से विराम पाने के लिए हमें आर-पार की लड़ाई लड़नी होगी तथा अर्जुन की तरह दृढ़ संकल्प करना होगा। जिंदगी में दीन-हीन भावों को आने ही नहीं दें और न ही परिस्थितियों से डरकर भागें, बल्कि जो भी संघर्ष आए, उनका मुकाबला डटकर करें। संघर्षों का साक्षात्कार निर्भयतापूर्वक करके सफलता प्राप्त कर सकते हैं। हमें विश्वास रखना चाहिए कि एक-न-एक दिन सफलता अवश्य मिलेगी। तब मानसिक शांति में भी अभिवृद्धि होगी।

आमतौर पर हमारे मन में चिंताएं वर्तमान की नहीं, अपितु बीते हुए कल की घटनाओं की अथवा भविष्य की ही होती हैं। ये चिंताएं व्यक्ति को इस कदर कमजोर बना देती हैं कि वर्तमान के अमूल्य क्षण ही नष्ट हो जाते हैं। जो बीत गया, सो बीत गया। उसे दिमाग में न रखें, तभी वर्तमान को सफल बनाया जा सकता है। काल के इस महासागर को पार करने में केवल आज और अभी तत्पर रहना होगा। बीते कल की चिंता करके उसे सुधारा नहीं जा सकता, जबकि इस चिंता में वर्तमान का क्षण अवश्य ही हाथों से फिसल सकता है। काल का चक्र अनवरत घूमता रहता है। भविष्य की चिंता में वर्तमान को गंवाने का अर्थ है—आत्मविनाश। अतः क्षणजीवी बनें, अपनी पूरी ऊर्जा, चेतना और क्षमता का उपयोग वर्तमान को सफल बनाने में लगाएं।

व्यक्ति को सदैव व्यस्त रहना सीखने की जरूरत है। खाली दिमाग शैतान का घर माना जाता है। इधर-उधर की बेकार बातें दिमाग में घुसाए रखने से अवास्तविक चिंताएं उत्पन्न होती हैं। मानसिक घुटन से छुटकारा पाने का एक ही सफल उपाय है कि मन को निरर्थक कल्पनाओं के जाल में न फंसने दें।

चिंताओं से छुटकारा अपने दृढ़ निश्चय से ही पाया जा सकता है। चिंताओं से मुक्त होने की एक सरल प्रक्रिया है कि उन्हें लिख डालें और फिर गहराई से देखें कि वे कितनी गंभीर हैं या कि सब-की-सब निराधार हैं। दूसरा तरीका यह भी हो सकता है कि अपने निकटतम और विश्वस्त साथी के पास बैठकर मन की सारी गांठें खोल डालें। चाहे पत्नी हो, पति हो, मां हो, सास हो या बेटा-बेटी—अपनी व्यथा बताने में न झिझकें। बशर्ते कि वे सब धीर-गंभीर और इतने विवेकशील हों कि आपकी व्यथा का उपहास न उड़ाएं। अक्सर अकेलेपन में चिंताएं पहाड़-सी हो जाती हैं और उनकी चुभन तीखी और पैनी बनकर जिंदगी को बरबाद कर देती है। किसी व्यक्ति के साथ यदि तनाव पैदा हुआ है तो बेहतर यही है कि उसे ही वह सब कह डालिए कि दिमाग से तनाव की जड़ ही खत्म हो जाए। और कहीं नहीं तो एकांत स्थान में बैठकर दिल को टटोलना चाहिए, उससे भी तनाव समाप्त हो सकता है। व्यक्ति को

अपने चरित्र की श्रेष्ठताओं को पहचानना चाहिए और स्वयं अपनी सराहना करनी सीखना चाहिए। अपनी निंदा और आत्महीनता की वृत्ति छोड़कर अपने-आप को पहचानना चाहिए। अपने सद्‌गुणों व क्षमता को पहचानकर पूरे मनोयोग से अपना काम किया जाए तो सफलता अपने-आप चरण चूमेगी।

मनुष्य के पास अलौकिक शक्ति का भंडार भरा पड़ा है। अपनी सुषुप्त ऊर्जा को काम में लगाएं और चिंतन-मनन से, जप-तप से तथा ध्यान व स्वाध्याय से चिंता पर विजय पाने के लिए अग्रसर होना चाहिए। बहुत-सारे व्यक्ति धूम्रपान, मद्यपान आदि मादक नशीले पदार्थों का भरपूर उपयोग करते हैं। नशीले पदार्थों से क्षणिक तृप्ति मिलती है, लेकिन चिंता से छुटकारा पाने का यह सही मार्ग नहीं है। नशे-पते से तो शारीरिक हानि ही होती है। जीवन खतरे में पड़ जाता है। मानसिक बल क्षीण हो जाता है। फलस्वरूप चिंताओं से तंग आकर बहुत-से लोग आत्महत्या भी कर बैठते हैं। चिंता एक ऐसी गांठ है— जिसे जितनी अधिक खींचेंगे, वह उतनी ही अधिक मजबूत होगी। उसे धैर्यपूर्वक विवेक से खोलेंगे तो वह खुल भी सकती है।

'अष्टांग योग' में प्रत्याहार और 'प्रेक्षाध्यान' में ध्यान के माध्यम से मन को चिंताओं से मुक्त करने, मन को बिल्कुल खाली करने की चेष्टा की जाती है। निर्विकल्प समाधि का रूप है ध्यान की गहराई में उतरना। इससे आत्मविश्वास जागेगा। भय, चिंता और हीन भावना स्वतः छूट जाएगी। मन में परम शांति का अनुभव होने लगेगा। प्रतिदिन के अभ्यास से विचारों में अवश्य परिवर्तन आएगा। जिस व्यक्ति का मस्तिष्क जितना अधिक ग्रहणशील और संवेदनशील होगा, वह उतनी ही तीव्रता से अपने अंदर बदलाव में समर्थ होगा। ❖

उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र की जाने कैसी अंतर-ध्वनि श्री महावीर के हर कर्म में समाई हुई थी कि याद आया—इस नक्षत्र का जिक्र केवल गर्भप्रवेश के समय से ही नहीं आता, बाद में भी आता है। मैंने अपनी लायब्रेरी में जाकर कुछ वे किताबें देखीं, जिनमें मेरी याददाश्त की तस्दीक हो सकती थी। और वही सामने रखकर श्री राज से पूछा—यह उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र कैसा करामाती था कि श्री महावीर का जन्म भी इसी नक्षत्र में हुआ, फिर दीक्षा का समय भी इसी नक्षत्र में आया, और फिर जब श्री महावीर को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ, उस समय भी यही नक्षत्र था...

कहा—इन नक्षत्र का जिक्र बार-बार आता है, चार शुभ मौकों पर, पर योग कौन-सा था, इसका विवरण कहीं नहीं मिलता। आप अलग-अलग मौके की शुभता के अनुसार इस नक्षत्र का अलग-अलग योग बताइए!

श्री राज कहने लगे—नक्षत्र सत्ताईस होते हैं। कई विद्वान इनकी गिनती अट्ठाईस भी मानते हैं। पर हम अपने समय के विभाजन के अनुसार चलें तो हमने जो समय की गिनती चौबीस घंटों में बांटी है, उसके मुताबिक 24वां घंटा, और समय के आधे भाग का 12वां घंटा बहुत अहमियत रखते हैं। इसलिए 24वां नक्षत्र और 12वां नक्षत्र भी बड़ी अहमियत रखते हैं।

चौबीसवां नक्षत्र शतभिषा होता है, जिसके साथ शुक्ल यानी शुक्र योग जुड़ता है। यह हमारा मानव-संसार क्योंकि शुक्र-प्रधान है, वीर्य-प्रधान, इसलिए उस शतभिषा योग की खास अहमियत है; जिससे शुक्र योग संबंधित है।

दिन-रात के चौबीस घंटे होते हैं और चौबीस का आधा अंक बारह उन्हें विभाजित करता है। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र क्योंकि बारहवां है, इसलिए उसकी अपनी खास अहमियत है। और सबसे बड़ी बात यह है कि इस नक्षत्र के साथ ध्रुव योग संबंधित है, इसलिए इसका प्रभाव ध्रुव की तरह स्थाई होता है।

महावीरजी के जीवन के चार शुभ अवसर थे—पहला गर्भप्रवेश का, दूसरा जन्म का, तीसरा दीक्षा का और चौथा ब्रह्मज्ञान का, वे सभी अवसर उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में आने ही थे। जिसका अर्थ था कि ध्रुव योग से संबंधित यह नक्षत्र हर अवसर का स्थाई प्रभाव देगा...

—अमृता प्रीतम

अकरम अस्पताल में भरती हो गया। किसी के साथ रहने की जरूरत न थी। खाना, पीना, दवा—सब वहीं से मिलना था। भरती के समय एक डाक्टर ने अकरम की जांच की। उन्होंने बतलाया कि अकरम सही समय पर आ गया इलाज के लिए। लीवर पर असर पड़ने लगा था। डाक्टर ने दवाइयां लिख दीं। नर्स दीदी को सब समझा दिया। दवा के बारे में भी हिदायत दी। कहा—'अकरम, शराब न पीने पर तुम्हें कुछ तकलीफें तो होंगी। पर उन तकलीफों को कम करने के लिए ये कुछ दवाएं तुम्हें लेनी होंगी। इन दवाओं से आधी से अधिक तकलीफें दूर होंगी, पर...'

बालकथा

बीजी! भरोसा रख

शारदाकुमारी

सुबह के आठ बजे थे। मनजीत को काम पर जाना था। वह चौके में काम निपटा रही थी। उसका बेटा करतार अभी सो रहा था।

'अब तो करतार को उठा दूं', यह सोच मनजीत कमरे में गई।

'करतारे, ओ करतारे! बेटे उठ भी जा', मनजीत ने रजाई खींचते हुए कहा।

'बीजी, सोने दे न। बस दस मिनट और', करतार ने रजाई वापस खींची। मनजीत बड़-बड़ करती चौके में चली गई। मां-बेटे की यह रोज की कहानी थी।

करतार मनजीत की इकलौती संतान था। करतार सात वर्ष का था, तभी उसके पिता चल बसे थे।

मनजीत ने मेहनत-मजूरी कर उसे पाला-पोसा। पढ़ाया-लिखाया। अब मनजीत चाहती थी कि करतार कोई काम-धंधा करे। कोई नौकरी मिल जाए तो ठीक। नहीं तो कोई छोटी-मोटी दूकान कर ले।

करतार को दोनों बातें पसंद न थीं। वह कहता—'बीजी, मैं तो गाड़ी चलाऊंगा। खूब पैसा मिलेगा। खूब घुमाई करूंगा।' मनजीत को यह बात न जंचती। उसका मानना था कि ट्रक चलाने वाले शराब बहुत पीते हैं। करतार उसके आगे कसमें खाता—'बीजी, मुझ पर भरोसा रख। मुझे ट्रक चलाने से मना मत कर। जरूरी नहीं कि हर ट्रक चलाने वाला शराब पीए।'

बच्चे की जिद थी। मां को हां कहनी पड़ी। शुरू में करतार को क्लीनर का काम मिला। एकदम ट्रक चलाने को देता भी कौन! करतार इसी में खुश था। आज नहीं तो कल, ट्रक चलाने को मिल ही जाएगा।

आज करतार के काम का पहला दिन था। मां-बेटे ने भगवान के आगे माथा टेका। मां खुद करतार को ट्रक तक छोड़ने गई। वह ट्रक-ड्राइवर से मिलना चाहती थी। ट्रक-ड्राइवर बड़ा ही भला आदमी था। उसका नाम अकरम था। मां ने अकरम से कहा—'बेटे, करतार का ध्यान रखना। अभी नया-नया है।' यह सुन अकरम हंस पड़ा। बोला—'सब मां एक-सी होती हैं। मेरी मां ने भी यही कहा था।'

ट्रक चला। करतार ने मूंछों पर ताव दिया। बड़ी शान से अकरम के साथ वाली सीट पर बैठा। आज

उसने नया पठानी सूट पहना था। गले में सुर्ख रेशमी रूमाल। सिर पर नई पगड़ी। चमचम करते जूते। आज कुछ अलग ही शान थी।

अकरम ट्रक चला रहा था। करतार उसे ध्यान से देख रहा था।

शहर पार हुआ। अकरम ने ट्रक की स्पीड बढ़ा दी। कोई चार घंटे बाद पहला पड़ाव पड़ा। यहां एक ढाबा था। ढाबे के सामने कुछ खटिया पड़ी थीं। खटिया पर कुछ लोग बैठे थे। वे खा-पी रहे थे। कुछ आराम कर रहे थे। अकरम ने ट्रक एक ओर लगाया। दोनों ढाबे पर पहुंचे। वहां बैठे लोगों से दुआ-सलाम हुई।

दोनों एक खाली खटिया पर बैठ गए। खाने का आर्डर दिया। खाना आने तक नल पर हाथ-मुंह धो आए। खाना आया। दोनों ने डटकर खाया। डकार ले करतार उठ गया। अकरम ने टोका—'ओए गधे, अभी से? 'ठंडी चाय' का मजा तो ले मेरे यार।'

'ठंडी चाय!' करतार कुछ समझा नहीं।

'अभी समझाता हूं', कह अकरम ने आवाज लगाई—'ओए छोटू! ले आ साठ मीला ठंडी चाय।'

पल-भर में शराब की बोतल हाजिर थी। 'रब जी! ये तो शराब है!' करतार तो जैसे कांप ही गया। आस-पास वाले सभी हंस पड़े। एक आवाज आई—'यार, पहली बार तो मेरा भी यही हाल था।' दूसरी आवाज आई—'मेरी तो टें ही बोल गई थी बोतल देखकर।'

'और अब?', कई आवाजें आईं।

'अब तो पौवा क्या, अद्धा भी कुछ नहीं। पूरी बोतल गटक जाता हूं', जवाब आया।

करतार चुप ही रहा। अकरम ने जिद नहीं की। मूली के टुकड़े खाए। साथ में बोतल गटकी। थोड़ा-बहुत आराम किया। फिर चल दिए सफर पर।

दिन गुजरे, महीने बीते। साल भी हो गया। करतार का काम सही चल रहा था। अब तक कई ट्रिप लगा ली थीं उसने। लखनऊ हो आया। मुंबई भी घूम लिया। कानपुर की तो कई ट्रिप हो गई थीं। अब एक दिन की ट्रिप न होती। हफ्ता भी लग जाता था। पर मजे की बात तो यह थी कि उसने ठंडी चाय (शराब) अब तक चखी भी नहीं थी। सभी हैरान होते। कहते—'बड़ा मजबूत है इसका मन।'

अकरम को भी आश्चर्य होता। जब अकरम इस लाइन में आया था, वह शराब नहीं पीता था। पीना भी नहीं चाहता था। पर मन को रोक न पाया। संगी-साथियों ने जिद की। बस, हो गई शुरू। अब यह हाल था कि घर पर भी पीता। घर वाले नाराज भी होते। पर सुनता कौन?

करतार को देख उसके मन में कसक उठती। सोचता—मैं क्यों कमजोर पड़ गया था।

बोतल जीत गई। मैं हार गया।

एक दिन की बात है। अकरम को न जाने क्या सूझी, सुबह-सुबह करतार के घर पहुंच गया। घर में किसी को कुछ न बताया। सुबह-सवेरे अकरम को देख करतार हैरान रह गया। उसकी मां भी हैरान। करतार ने पूछा—'भाई, ट्रिप तो शाम को जानी है न!'

'ओए, ट्रिप की बात छोड़। पहले तू अपना राज बता। हमारी लाइन में आए तुझे साल हो गया। पर शराब से तू एकदम दूर है। उस ताकत का राज मुझे भी बता। तू कैसे हम सबके बीच रह लेता है बगैर पीए।' अकरम वहीं बाहर खड़े-खड़े कहने लगा।

करतार की मां उसे अंदर लाई। प्यार से बिठाया। सिर पर हाथ फेरा। प्यार से बोली—'लगता है, कुछ परेशान हो!'

'हां बीजी, बहुत परेशान हूं', कहते-कहते अकरम रो पड़ा। रोते-रोते बोला—'कल मेरे बेटे की सालगिरह थी। मैंने सोचा, उसे खिलौना ले दूं। बाजार गया। वहां दिख गई शराब की दूकान। बस, फिर क्या था! किसकी सालगिरह, कैसा खिलौना! मन को रोक ही न पाया। मैं तो तंग आ गया इस बोतल से। कब छोड़ेगी यह मेरी जान।'

करतार ध्यान से अकरम की बातें सुन रहा था। मनजीत प्यार से उसका सिर सहला रही थी। रोने से अकरम का जी कुछ हल्का हुआ। अपने बीते दिन याद कर बोला—'एक वह भी दिन था। मैंने चखी भी न थी। अरे, कोसों दूर भागता था। यार-दोस्तों ने जिद की। एकाध घूंट ले ली। वही जी का जंजाल बन गई।

'तब कितना खयाल रखता था अम्मी-अब्बा का। बीवी-बच्चों के संग बातें करता। उन्हें घुमाने ले जाता। रिश्तेदारी में उठता-बैठता। पर अब? अरे, अब तो सब छूट गया। रह गई तो बस यह ड्राइवरी और बोतल।'

अभी अकरम और भी कुछ कहता कि मनजीत ने टोका—'सब-कुछ तो जानते हो। शराब से परेशान भी हो। तो छोड़ क्यों नहीं देते?'

अकरम ने अपनी मजबूरी बताई—'बीजी, बहुत बार कोशिश की छोड़ने की। पर नहीं छूटती। जिस दिन न पीऊं, मरने जैसा हाल हो जाता है। पेट में खूब ऐंठन होती है। हाथ-पैर कांपने लगते हैं। मुंह से खूब लार टपकती है। मेरा हाल देख घरवाले घबरा जाते हैं। तब खुद ही कहते हैं—'चल ले-ले एक घूंट। पर ठीक रह'।'

अब क्या किया जाए—तीनों के सामने यही सवाल था।

करतार और मनजीत सोच रहे थे—अकरम की मदद कैसे की जाए। अकरम को उपदेश देने की तो जरूरत ही न थी। वह तो खुद शराब से परेशान है। शराब छोड़ने को तैयार है। पर बेचारा बेबस है।

अचानक मनजीत के मन में न जाने क्या बात आई। उसने झटपट शाल ओढ़ी, चप्पल पहनी और बाहर चल दी। चलते-चलते कह गई—'अकरम बेटे, रुकना। मैं अभी आई।'

करतार को मां पर गुस्सा आया। मन में सोचा—मेरा मालिक इतना परेशान है। हमसे मदद मांगने आया है। मगर ये देखो कहां चल दी?

आधे घंटे के भीतर मनजीत लौट आई। आते ही अकरम से बोली—'बेटे, तुम सच में शराब छोड़ना चाहते हो क्या?'

'आपको क्या लगता है? मैं नाटक कर रहा हूं? या खुदा! क्या कहूं? शराब पीता हूं तो दुनिया बुरा आदमी कहती है। जब छोड़ने की कहूं तो कोई भरोसा नहीं करता। बीजी, आप भी ऐसा ही सोचती हैं?' यह कह अकरम उठ खड़ा हुआ।

मनजीत ने फौरन उसका हाथ पकड़ा। उसे बिठाया और बोली—'बेटे, लगता है बुरा मान गए। अभी मैं अपने मालिक के घर गई थी। वे बड़े समझदार इंसान हैं। स्कूल में पढ़ाते हैं। उन्हीं से सलाह मांगने गई थी।'

'तो फिर क्या सलाह दी उन्होंने? कुछ बात बन पाएगी?' अकरम उतावला हो उठा।

'हां-हां, बात तो जरूर बनेगी। एक पता दिया है उन्होंने। कहते हैं—यहां इलाज करा लो। लड़का एकदम ठीक हो जाएगा।' मनजीत ने अकरम को एक कागज पकड़ाया।

कागज पर एक अस्पताल का पता था—व्यसन उपचार केंद्र, घंटाघर, हरिनगर, नई दिल्ली।

उसे हैरानी हुई कि नशे का भी इलाज होता है।

खैर, देर करने का समय न था। सुबह के नौ बज गए थे। मनजीत ने फटाफट नाश्ता बनाया। जरूरी काम निपटाया। फिर तीनों जने चल पड़े अस्पताल। 628 नंबर की बस सीधी जाती थी। इसलिए कोई परेशानी नहीं हुई। समय पर वे अस्पताल पहुंच गए। फटाफट अकरम की पर्ची बनवाई।

अकरम की बारी आई। वह कमरे में गया। वहां एक मैडम बैठी थीं। पता नहीं क्या-क्या पूछती रहीं अकरम से। कोई बीस मिनट में अकरम बाहर आया। बड़े उदास मन से बोला—'बीजी, बात न बनेगी। चलो, वापस चलते हैं।'

करतार और उसकी बीजी को बड़ी हैरानी हुई। दुख भी हुआ। अकरम तो एकदम पक्का मन बनाकर आया था। अब वापस चलने को कहता है।

बीजी ने पूछा—'माजरा क्या है, बेटे? घबरा गए क्या?'

'नहीं, घबराया तो नहीं। मैडम यहां भरती होने के लिए कह रही हैं। पूरे एक महीने के लिए। अगर एक महीना यहां रहा तो कमाऊंगा क्या? अब तक जो कमाया, वह उड़ा दिया। कुछ जमा-पूंजी तो रखी नहीं। इलाज तो मुफ्त में हो जाएगा। मगर घरवाले खाएंगे क्या?' अकरम ने अपनी परेशानी बताई।

अकरम की बात में दम था। एकाध दिन की बात तो थी नहीं।

खैर, अकरम अपने घर गया। साथ में करतार और मनजीत भी गए।

घरवालों को पता चला कि अकरम शराब छोड़ना चाहता है तो सब बहुत खुश हुए। अकरम की बीवी को तो जैसे मुंहमांगी मुराद मिल गई। वह तो रोज दुआ मांगती थी कि उसका शौहर शराब पीना छोड़ दे।

सबने अकरम को भरोसा दिलाया कि वह खर्चे की फिक्र न करे। अम्मी बोलीं—'बेटा, हम सब कुछ-न-कुछ जुगाड़ लगा लेंगे। महीने-भर की तो बात है। तुम इलाज जरूर कराओ।' अकरम की बीवी ने तो अपने सब गहने ही आगे रख दिए। कहने लगी—'घर का खर्चा तो चल ही जाएगा। इलाज में जो भी पैसा लगे सो लगाओ।'

घरवालों से तसल्ली पा अकरम की चिंता दूर हुई। अब वह इलाज के लिए पूरी तरह तैयार था।

अकरम अस्पताल में भरती हो गया। किसी के साथ रहने की जरूरत न थी। खाना, पीना, दवा—सब वहीं से मिलना था। भरती के समय एक डाक्टर ने अकरम की जांच की। उन्होंने बतलाया कि अकरम सही समय पर आ गया इलाज के लिए। लीवर पर असर पड़ने लगा था। डाक्टर ने दवाइयां लिख दीं। नर्स दीदी को सब समझा दिया। दवा के बारे में भी हिदायत दी। कहा—'अकरम, शराब न पीने पर तुम्हें कुछ तकलीफें तो होंगी। पर उन तकलीफों को कम करने के लिए ये कुछ दवाएं तुम्हें लेनी होंगी। इन दवाओं से आधी से अधिक तकलीफें दूर होंगी, पर...'

'बाकी मुझे खुद सहन करना होगा। क्यों यही न!' अकरम ने बात पूरी की।

'बिल्कुल सही! कई बार मरीज ज्यादा दवाई की जिद करता है। पर तुम ऐसा मत करना। ऐसे में दवाई की भी आदत पड़ जाती है', डाक्टर साहब समझाकर चले गए।

थोड़ी देर में पहले दिन वाली मैडम आईं। वे मनोवैज्ञानिक (मन की बीमारियों की डाक्टर) थीं। वे दवाई की जगह बातों से मरीज का इलाज करतीं। अकरम जान गया था कि नशा एक बीमारी है। इस बीमारी का इलाज जरूरी है। इसमें शरीर पर तो असर पड़ता ही है, मन पर भी बहुत असर पड़ता है। इसलिए दवा के साथ-साथ बातें भी जरूरी थीं। अकरम के कमरे में चार और मरीज भरती थे। दो तो स्मैक के नशेड़ी थे। एक शराब का आदी था। चौथा अफीम, चरस, गांजा—सभी का नशा करता था। चारों ने उससे दोस्ती करनी चाही। पर अकरम का मन न था। वह मुंह ढांपकर सो गया।

दिन तो जैसे-तैसे गुजरा, पर शाम होते ही अकरम को तलब लगने लगी। मन हो रहा था कि दरवाजा तोड़कर भाग जाए। बहुत तड़पन हो रही थी। पर उसने जी कड़ा किया और मन को समझाया।

उसे लगा कि अगर आज वह हार गया तो फिर कभी न जीत पाएगा। शुरू के तीन-चार दिन तो बड़ी तकलीफ में गुजरे। बड़े पसीने छूटे। पूरा शरीर दर्द से जकड़ा रहता। पेट में जबरदस्त दर्द उठता। मरोड़ तो ऐसे उठते कि कुछ पूछो नहीं। अकरम की आंखों के आगे अद्धा-पौवा नाचने लगते। नमक-नीबू लगे मूली के कतले याद आते। मन करता—बस एक घूंट ही मिल जाए।

सात-आठ दिन तक यही हाल रहा। अब पहले जैसी तकलीफ नहीं होती। हां, नींद कुछ कम आती। आखिर इतने सालों से जो पी रहा था। असर तो पड़ना ही था न शरीर पर! खैर, महीने-दो-महीने में नींद भी सही हो जाएगी, ऐसा डाक्टर ने बताया।

अकरम को अस्पताल में कोई चौदह दिन हो चले थे। अब वह अपने को ठीक महसूस कर रहा था। उसने डाक्टर से छुट्टी मांगी। डाक्टर हंस पड़े। बोले—'दस-बारह दिन बाद हर मरीज यही कहता है। शरीर की टूटन दूर हुई कि समझते हैं, इलाज पूरा हो गया। अरे भई, अपनी हुड़क को भी रोकना सीखोगे या नहीं?'

'क्यों डाक्टर साहब, हुड़क रोकने की भी दवा है क्या आपके पास?' अकरम पूछ बैठा।

'हुड़क, इच्छा, तलब—यही ले जाती थी न तुम्हें बोतल की तरफ! इनकी दवा है तुम्हारे मन की ताकत। यह तुम्हें खुद के अंदर पैदा करनी है', यह कहकर डाक्टर चले गए।

'जब मुझे मन की ताकत खुद ही पैदा करनी है तो यहां क्यों? घर पर क्यों नहीं?' अकरम बड़-बड़ करते सो गया।

शाम को मनोवैज्ञानिक मैडम अकरम को एक बड़े-से कमरे में ले गईं। उस कमरे में मरीज तरह-तरह के खेल खेल रहे थे—ताश, शतरंज, छक्कन पौ (लूडो)। कुछ मरीज किताबें, अखबार आदि पढ़ रहे थे। वहां पेंटिंग का सामान भी था। साथ वाले कमरे में सूत कताई, कुर्सी बिनाई, टाइपिंग का काम सिखाया जा रहा था। जिस मरीज की जिस काम में इच्छा हो, वह वही सीखता। सिखाने वाले हरदम मौजूद रहते।

अकरम को उनमें से किसी भी काम में मजा न आया। उसे तो अब छुट्टी की रट लगी थी। मनोवैज्ञानिक मैडम ने उसे समझाया—'अकरम, यह तुम्हारी पीने की तलब तुम्हें छुट्टी के लिए उकसा रही है। तुम देख लेना, यहां से छूटते ही यार-दोस्तों के पास भागोगे।'

'अरे, क्या बात कहती हैं आप? जाना तो दूर, कोई मुझे पीने को देगा न, तो खुदा कसम, बोतल तोड़ दूंगा। साथ में देने वाले की गरदम भी मरोड़ दूंगा', अकरम तैश में आकर बोला।

'कहने और करने में बहुत फर्क है, अकरम भाई। आओ, और कुछ नहीं तो थोड़ी पेंटिंग ही कर लो', कहकर वह मन वाली डाक्टर अकरम को फिर हॉल में ले गईं।

मन मारकर अकरम कागज पर कुछ बनाने लगा। थोड़ी देर बाद जो उसने देखा तो हैरान ही रह गया। क्या सुंदर तस्वीर बनाई थी उसने! ट्रक चलाने के अलावा भी मेरे पास कोई और हुनर है, यह सोच उसे अच्छा लगा।

अगले दिन वह सुबह-सुबह हॉल में पहुंच गया। तस्वीरें बनानी शुरू कर दीं। शाम को घरवाले मिलने आए। अकरम ने उन्हें अपनी बनाई तस्वीरें दिखाईं। अम्मी तो निहाल हो गईं। और बीवी ने तो शरम से आंचल में अपना मुंह छिपा लिया। भला क्यों? अकरम ने बीवी की तस्वीर जो बनाई थी।

अकरम को पेंटिंग करने में मजा आने लगा था। इस बहाने उसकी तीन-चार मरीजों से दोस्ती हो गई थी। वे एक-दूसरे को आपबीती सुनाते। अकरम ने अपना पूरा किस्सा सुना डाला। कब ट्रक चलाना शुरू किया। कैसे ठंडी चाय का चक्कर चला। कैसे शराब उसकी आदत बन गई। शराब ने कैसे उसके शरीर और मन को तोड़ा। इसकी वजह से घरवाले भी उससे दूर हो गए। सभी बातें बताईं।

जब भी वह जी खोलकर बातें करता, उसे अच्छा लगता। बेचैनी दूर हो जाती। बातें करते समय उसे तलब भी न उठती। अकरम समझ गया था कि यह तरीका है हुड़क रोकने का। शायद इसलिए छुट्टी नहीं दी गई थी। अकरम करतार को हमेशा दिमाग में रखता। करतार को देख वह अपना मन बना पाया था।

महीना पूरा हुआ। अकरम को छुट्टी मिल गई। डाक्टर ने कहा—'अभी हफ्ते में दो दिन हमारे पास जरूर आना। लंबी-लंबी ट्रिप शुरू में न लेना।' घरवाले और करतार उसे लेने आए थे। सबके चेहरे खुशी से चमक रहे थे।

चलते-चलते डाक्टर ने एक बात और कही—'अब अगर ठंडी चाय की याद आए तो...'

'तो पीऊंगा ठंडी लस्सी', यह कहकर अकरम हंस पड़ा।

अकरम की इस हंसी में उसकी मां, बीवी, जूनियर दोस्त करतार—सभी शामिल थे। ❖

मन इंद्रियों का संचालक है। मन की आज्ञा से ही कर्मेंद्रियां कार्य करती हैं। अर्थात् कर्मेंद्रियों के द्वारा मन कार्य करता है। हाथ-पैर इत्यादि मन की आज्ञा से चलते-फिरते हैं, लेते-देते हैं, सभी कार्य करते हैं। जब मन एकाग्र होकर किसी कार्य में तल्लीन हो जाता है तब भले ही आंखों के सामने से कोई दृश्य निकल जाए, आंखें नहीं देख पातीं। किसी भी ध्वनि को कान नहीं सुन पाते। ऐसे ही ज्ञानेंद्रियों के द्वारा मन कार्य करता है। मन संकल्प-विकल्प करता है।

—शिवदयाल

With best compliments from :

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor

Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 | Fax : (033) 22828462

e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan) • Ludhiana (Punjab)

जैन भारती, नवंबर, 2003 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

SKF

Bearing is not our only business.

CR

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata 700001, Ph-2220-1926/0640, Fax-22485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।